

# चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 1 अंक 2

अक्टूबर-दिसम्बर 2003

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

डॉ. लोकेश चन्द्र

निर्मल वर्मा

यशदेव शल्य

जे.एन. राय

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

आस्था भारती

3/504 ईस्ट एंड अपार्टमेन्ट

मयूर विहार फेस-1 विस्तार

दिल्ली-110096

से आस्था भारती के लिए डॉ. बी.बी. कुमार, सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा द्वारा मुद्रित।

फोन : 011-22712454

अणु डाक : asthab@vsnl.net

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

## अनुक्रम

संपादकीय परिप्रेक्ष्य लेखकीय एवं संपादकीय काहिली तथा हिन्दी का बिगड़ता स्वरूप	5
1. एक भारतीय कम्युनिस्ट की आत्मकथा निर्मल वर्मा	7
2. हिंदी लेखन, विचारधारा और इतिहास बोध सत्यमित्र दुबे	13
3. मार्क्सवादी अपराधों की अटूट शृंखला शंकर शरण	29
4. वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली : नई पहल की जरूरतें राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव	43
5. ऐतिहासिक उपन्यासों में राष्ट्रबोध का यथार्थ शत्रुघ्न प्रसाद	59
6. गुरु गोविन्द सिंह की आत्मकथा : विचित्र नाटक महीप सिंह	67
7. हिन्दी मेला, सूरीनाम में नरेन्द्र कोहली	73
8. मेरा 'रामगाथा' उपन्यास रमानाथ त्रिपाठी	86
9. बिहार आन्दोलन की शव-परीक्षा रामजी सिंह	93
10. मणिपुर में इतिहास लेखन कला: श्रीधर नारायण पाण्डेय	101
11. आदिवासी गैर-आदिवासी सातत्य ब्रज बिहारी कुमार	107
12. हिन्दी में विज्ञान - भावना कृष्ण कुमार मिश्र	116
13. पाठकीय प्रतिक्रिया	121

## लेखकीय एवं संपादकीय काहिली तथा हिन्दी का बिगड़ता स्वरूप

विश्व की सभी भाषाएँ दूसरी भाषाओं से शब्द ग्रहण करती हैं और विकसित होती हैं। अंग्रेजी में ऐसा सर्वाधिक हुआ है। उस भाषा में दूसरी भाषाओं से आगत शब्दों की संख्या विश्व की किसी भी भाषा की तुलना में अधिक है। हिन्दी में भी अंग्रेजी, अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं से आये शब्दों की संख्या हजारों में है। आगत शब्दों को ग्रहण करने के लिए कुछ नियमों का पालन आवश्यक होता है, जो निम्नलिखित हैं:

1. शब्द ग्रहण करनेवाली भाषा में आगत शब्दों के लिए अपने शब्द नहीं होते।
2. आगत शब्दों पर शब्द ग्रहण करनेवाली भाषा के ध्वनि नियम लागू होते हैं और वे शब्द उस में भाषा रचपच जाते हैं।
3. आगत शब्द उस भाषा के व्याकरण के अनुसार प्रयुक्त होते हैं।

हिन्दी भाषा में इन बातों का पालन नहीं किया जा रहा है। इस बात को भुलाया जा रहा है कि भारतीय भाषाओं का साहित्य अत्यन्त प्राचीन तथा समृद्ध रहा है। यही बात इन भाषाओं के शब्द सम्पदा के विषय में भी कहीं जा सकती है। दुर्भाग्य की बात है कि अपनी समृद्ध शब्द-सम्पदा के होते हुए भी इन भाषाओं, विशेषतः हिन्दी में, अंग्रेजी, फारसी एवं अरबी शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से किया जाने लगा है। हिन्दी बोलते या लिखते समय अंग्रेजी शब्दों एवं वाक्यों के प्रयोग से इस भाषा का स्वरूप विकृत होता जा रहा है। हिन्दी एक पिजिन या फिर क्रेओल भाषा बनती जा रही है। यह एक दोगली भाषा तथा दोगली संस्कृति की वाहक बनती जा रही है। भाषायी अराजकता तेजी से फैल रही है।

स्थिति भयावह है। आनेवाली पीढ़ी के लिए अपनी भाषायी पहचान खोने का खतरा वास्तविक होता जा रहा है। समस्या का निदान आवश्यक है।

हिन्दी में इस भाषायी अराजकता के कुछ कारण नीचे दिए जा रहे हैं :

1. हिन्दी लेखकों एवं सम्पादकों की काहिली: लेखक कुछ लिखने या बोलने के समय अपने दिमाग पर जोर देना नहीं चाहते; आलस्यग्रस्त रहते हैं। सम्पादक जो कुछ आता है, भाषा पर ध्यान न देकर छाप देते हैं।

2. हिन्दी लेखकों की तीव्र हीनता-ग्रन्थि : उनमें यह दिखाने की प्रबल इच्छा होती है कि वे अंग्रेजी भी जानते हैं। उनमें से कई अंग्रेजी शब्दों का उच्चारण करते

समय यथा-संभव अंग्रेजी उच्चारण की नकल तथा उस भाषा के कुछ व्याकरण के नियमों; जैसे “स्कूल्स”, “स्कूलों” नहीं, का परिपालन करते हैं।

3. लिपि एवं भाषा के विभेद को भुलाया जा रहा है। इस बात को ध्यान में नहीं रखा जा रहा है कि देवनागरी लिप्यान्तरण से कोई शब्द हिन्दी का नहीं हो जाता है।

4. समाचार माध्यमों - अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं, रेडियो, दूरदर्शन - में भाषा नीति का अभाव भी हिन्दी की दुर्दशा का प्रमुख कारण है। समाचार माध्यम लगातार इस भाषा का स्वरूप बिगाड़ रहे हैं। दूरदर्शन में देवनागरी शीर्षक को हटाकर हिन्दी फिल्मों/धारावाहिकों तक के शीर्षक रोमन लिपि में देने का प्रचलन बढ़ रहा है।

5. वामपंथी रूझान के लेखक/पत्रिकाएं अनावश्यक रूप से कठिन विदेशी शब्दों का प्रयोग तथा प्रचलित शब्दों का तद्भवीकरण करती हैं। इस देश का पढ़ा-लिखा वर्ग अपने बच्चों को हिन्दी सिखाने पर बल नहीं देता। उसका भ्रम है कि मातृभाषा सीखी नहीं जाती, स्वयं आ जाती है। देश के जागरूक तबके को तो कम से कम इस बात को स्वीकार करके उसे कार्यरूप देना ही चाहिए कि मातृभाषा भी सीखी ही जाती है। हिन्दी भी सीखी ही जानी चाहिए।

समाज का नव-धनाढ्य तथा अंग्रेजी शिक्षितों का बहुत बड़ा वर्ग अपनी पहचान खोने के आत्म सम्मोहन से ग्रस्त है। शेष समाज, उसकी भाषा, लोक-जीवन, लोक-संस्कृति, परम्परा आदि से उसकी दूरी उसके सम्मान एवं आधुनिकता का मापदण्ड बनती जा रही है। इस घातक प्रवृत्ति पर लगाम लगाना आवश्यक है। कुबेर नाथ राय हिन्दी के जाने माने ललित निबंधकार रहे हैं। अपने एक निबंध में उन्होंने पूर्वी उत्तर प्रदेश से बिहार आयी एक बारात का उल्लेख किया है। विद्यापति के एक सुन्दर सुमधुर पद का रिकार्ड बज रहा था, जिसे सुनकर कुछ बाराती नाक भौं सिकोड़ रहे थे। फिर एक भोंड़ी सी गजल का रिकार्ड बजाया जाने लगा, जिसे सुनकर वे सभी उछल पड़े और वाह वाह करने लगे। उनका आचरण उसी प्रवृत्ति को दिखा रहा था।

**ब्रज बिहारी कुमार**

## एक भारतीय कम्युनिस्ट की आत्मकथा

निर्मल वर्मा\*

किसी पुस्तक को पढ़ते हुए लगता है, हम सहसा इतिहास के ऐसे 'चौराहे' पर चले आए हैं, जहाँ सेहमारी जिन्दगी के कुछ वर्ष बीते थे। हम भी उन्हीं घटनाओं के झाड़ झाड़ा के भीतर से गुजरे थे, जिनका दृष्टा पुस्तक का लेखक था। जिन झंझावातों के थपेड़ों ने उसके जीवन को झिंझोड़ा था, उनके असहाय भोक्ता हम भी थे। एक ही रास्ते के दो पथिक जो अलग-अलग दिशाओं से होते हुए सहसा पुस्तक के पन्नों पर एक दूसरे से मुलाकात कर लेते हैं। लेखक की आत्मकथा में स्वयं पाठक उसका एक पात्र बना दिखायी देता है। मोहित सेन की पुस्तक 'एक भारतीय कम्युनिस्ट की जीवनी: एक राह, एक यात्री' पढ़ते हुए मुझे कई बार कुछ ऐसा ही विचित्र अनुभव होता था।

यह सचमुच अचरज की बात है कि आज भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का कोई वस्तुपरक, निष्पक्ष-रूप से लिखा 'इतिहास' नहीं है, इतिहास जैसा हुआ है वैसा, वैसा नहीं जैसा पार्टी अपने को देखती है। अनेक महत्वपूर्ण तथ्य आज भी रहस्य की कुहेलिका में डूबे हैं; पार्टी की बदलती हुई नीतियों के पीछे कोई स्पष्ट तर्क-रेखा नहीं, अराजक उच्छृंखलता दिखायी देती है। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है, कि जो पार्टी हर दूसरी सांस में 'इतिहास' का नाम जपती है, उसका स्वयं अपना कोई तर्कसंगत, विश्वसनीय इतिहास नहीं। इस दृष्टि से मोहित सेन की पुस्तक, आत्मपरक होने के बावजूद या शायद इसी के कारण, एक भारी कमी को पूरा करती जान पड़ती है। वैसे भी एक कम्युनिस्ट का व्यक्तिगत जीवन, एक सीमा के बाद, उसके पार्टी के इतिहास में इतना घुलमिल जाता है, कि दोनों को अलग कर पाना असंभव जान पड़ता है। यह बात बरसों पहले अमरीकी पत्रकार ऐडगर स्नो ने अपनी पुस्तक 'रैड स्टार ओवर चाईना' में माओत्से तुंग से इन्टरव्यू करते समय महसूस की थी। यदि मोहित सेन की 'आत्मकथा' अन्य कम्युनिस्ट नेताओं से कुछ अलग है, तो इसलिए कि उसमें उनका व्यक्तिगत जीवन उनके सार्वजनिक परदे के पीछे तिरोहित नहीं हो पाता, बल्कि

\* निर्मल वर्मा, प्रख्यात साहित्यकार, चिन्तक, ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्तकर्ता एवं महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय के कुलाधिपति हैं। वे 'चिन्तन-सृजन' की सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति के सदस्य हैं।

उनके पीड़ित अन्तर्द्वन्द्वों, आत्म-शंकाओं और पार्टी के भीतर रहते हुए भी पार्टीको बाहर से देखने की उन्मुक्त आलोचनात्मक चेतना को उभारता हुआ उनकी जीवन-कथा को एक गहन मानवीय गरिमा प्रदान करता है। उनकी पुस्तक पार्टी नीतियों का औचित्य स्थापित करने के लिए नहीं लिखी गयी, इसके ठीक विपरीत अपने जीवन, अनुभवों की कसौटी पर निर्भीक आकलन करने के लिए लिखी गयी है। अक्सर कम्युनिस्ट पार्टी 'आत्मालोचना' का यंत्र दूसरों की आलोचना करने में ही इस्तेमाल करती है, मोहित सेन पहली बार उसका परीक्षण अपने जीवन की प्रयोगशाला में करते हैं। उनकी पुस्तक में एक तरह का बौद्धिक खुलापन है, जो कम्युनिस्ट हठधर्मिता से अलग एक सुशिक्षित पाश्चात्य 'लिबरल' बुद्धिजीवी की याद दिलाता है।

यह संयोग नहीं कि कलकता के ब्रह्म समाज में मोहित सेन का परिवार पाश्चात्य संस्कृति में इतना रंगा-ढला था कि भाई-बहिन सब एक दूसरे से अंग्रेजी में बात करते थे। स्वयं मोहित सेन बड़े होने पर भी बंगला में बातचीत करने में हिचकिचाते थे। अपने पिता ए.एन. सेन से, जो कलकता हाईकोर्ट के सुविख्यातजज थे, मोहित सेन ने न्याय और सत्य की विवेक-चेतना को पहचाना था, जो अंग्रेजी राज के काले पक्षों की आलोचना करते हुए भी उसके लोकतांत्रिक आदर्शों को अपनाती थी। अपने युवावस्था के दिनों में - और बाद में इंग्लैंड जाने पर केम्ब्रिज युनिवर्सिटी के बौद्धिक परिवेश में मोहित सेन मार्क्सवाद के प्रति आकृष्ट हुए। हमारी पीढ़ी के अनेक बुद्धिजीवियों की ही तरह चीनी क्रान्ति ने मोहित सेन को भी वामपक्षीय विचार धारा की ओर मोड़ दिया। केम्ब्रिज में मौरिस डॉब जैसे मार्क्सवादी अर्थशास्त्री और एरिक हॉब्सबॉम और क्रिस्टोफर हिल जैसे इतिहासकारों के प्रभाव से भी वे उत्तरोत्तर कम्युनिस्ट पार्टी के निकट आते गये। बहुत वर्षों बाद मोहित सेन जब अपने कम्युनिस्ट दिनों को याद करते हैं, तो भारतीय मार्क्सवादी परंपरा के बारे में एक बहुत ही मार्मिक टिप्पणी करते हैं, जो बाद के वर्षों में कम्युनिस्ट पार्टी के विकास के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा बन गयी। वह लिखते हैं "यहाँ यह कह देना जरूरी है कि उन दिनों किसी कम्युनिस्ट नेता ने हमारी युवा मानसिकता को स्वयं भारत की महान परंपराओं और बौद्धिक योगदान की ओर ध्यान नहीं दिलाया जो हमारे देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन और मार्क्सवाद के विकास के लिए इतना उपयोगी सिद्ध हो सकता था...हम कम्युनिस्ट अधिक थे भारतीय कम।"

पी.सी. जोशी अवश्य इसका अपवाद थे। यह संयोग नहीं कि उनके नेतृत्व तले कम्युनिस्ट पार्टी पहली बार सिद्धान्तों से उठ कर हाड़-मांस की जनता के बीच आयी जिसके कारण उसकी लोक चेतना इतनी प्रशस्त हुई। उन्ही दिनों प्रगतिशील लेखक संघ, नाट्य संस्था 'ईप्टा' और किसान सभाओं ने जनता के विभिन्न वर्गों को एक सुनिश्चित दिशा में अग्रसर होने के लिए संगठित किया। आश्चर्य नहीं, मोहित सेन बार-बार इस बात पर शोक प्रकट करते हैं, कि पचास के दशक में रणदिवे की घोर

संकीर्ण नीतियों के कारण कम्युनिस्ट पार्टी ने उस विराट जन-मोर्चे को नष्ट हो जाने दिया, जिसे जोशी ने इतनी सूझबूझ के साथ निर्मित किया था। परिणाम यह हुआ कि बाद के वर्षों में कम्युनिस्ट पार्टी देश की मुख्य राष्ट्रीय धारा से कटती गयी और उसका प्रभाव सिर्फ इक्के-दुक्के प्रान्तों में सिमट कर रह गया। क्या इससे अधिक कोई आत्मघाती दृष्टि हो सकती थी कि स्वतंत्रता मिलने के वर्षों बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी एकमात्र ऐसी संस्था थी जो देश की आजादी को “झूठी” और गांधी और नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेताओं को ‘साम्राज्यवादी शक्तियों का एजेन्ट’ साबित करने में एड़ी चोटी का पसीना एक करती रही! मोहित सेन बहुत पीड़ा से इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं, कि पार्टी स्वयं अपने देश के सत्तारूढ़ वर्ग के चरित्र के बारे में बरसों तक कोई स्पष्ट धारणा नहीं बना सकी थी। इसके कारण अपनी नीतियों में वह कभी घोर दक्षिणपंथी, कभी कट्टर संकीर्ण क्रान्तिकारी हो जाती थी। मोहित सेन के लिए यह बहुत प्रीतिकर अनुभव था, जब कुछ कम्युनिस्ट नेताओं ने जो वियतनामी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हो चि मिन्ह से मिल कर आए थे - उन्हें बताया कि हो चि मिन्ह ने उनसे गांधी और नेहरू की बहुत प्रशंसा करते हुए उन्हें बताया कि कैसे वियतनामी कम्युनिस्ट पार्टी राष्ट्रीय मुक्तिसंग्राम के दौरान भारत के राष्ट्रीय नेताओं से प्रेरणा प्राप्त करती रही है।

लगता है अगस्त सन बयालीस के ‘भारत छोड़ो’ राष्ट्रीय आन्दोलन के औचित्य के बारे में मोहित सेन कुछ असमंजस में जान पड़ते हैं। यह सर्वविदित है कि सोवियत संघ पर जर्मन आक्रमण होने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के लिए युद्ध का चरित्र बदल गया था। जिसे पार्टी अभी तक ‘साम्राज्यवादी युद्ध’ कह कर कड़ा विरोध करती आयी थी, वही युद्ध रातों रात ‘जन युद्ध’ में परिणत हो गया था। मोहित सेन जहाँ पार्टीकी राष्ट्रीय-विरोधी नीति के बारे में शंका प्रगट करते हैं, वहाँ दूसरी ओर एक महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठाते हैं: क्या गांधीजी और कांग्रेसी नेताओं के जेल जाने के बाद देश में एक शून्य-भरी हताशा नहीं फैल गयी थी, जिसका दुरुपयोग अंग्रेजी सरकार ने मुस्लिम लीग के साथ मिल कर किया? अंग्रेजी सरकार का प्रश्न पा कर अब मुस्लिम सांप्रदायिकता को खुल्लम खुल्ला भड़काया जा सकता था, ताकि कालान्तर में देश विभाजन के अलावा कोई दूसरा विकल्प न बचा रहे। क्या ऐसी विकट, नाजुक स्थिति में देश की राजनीति में कांग्रेस की निष्क्रियता देश के हितों के लिए घातक साबित नहीं होती थी?

इसके साथ ही मोहित सेन बहुत आश्चर्य और दुःख के साथ भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की तत्कालीन पाकिस्तान-समर्थक नीतियों की भर्त्सना भी करते हैं। धर्म के आधार पर देश के राष्ट्रीय-विभाजन का समर्थन मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रतिकूल तो था ही, वह उन मुस्लिम राष्ट्रीय भावनाओं को भी गहरी ठेस पहुँचाता था, जो आज तक कांग्रेस और अन्य प्रगतिशील शक्तियों के साथ मिल कर मुस्लिम लीग

की अलगाववादी नीतियों का विरोध करते आ रहे थे। मालूम नहीं, अपने को ‘सेक्यूलर’ की दुहाई देने वाली दोनों कम्युनिस्ट पार्टियाँ आज अपने विगत इतिहास के इस अंधेरे अध्याय के बारे क्या सोचती हैं, किन्तु जो बात निश्चित रूप से कही जा सकती है, वह यह कि आज तक वे अपने अतीत की इन अक्षम्य, देशद्रोही नीतियों का आकलन करने से कतराती हैं। आश्चर्य नहीं, कि अपनी पार्टी के इतिहास को झेलना पार्टी के लिए कितना यातनादायी रहा होगा, उसे लिखकर दर्ज करना तो बहुत दूर की बात है। मोहित सेन की पुस्तक यदि इतनी असाधारण और विशिष्ट जान पड़ती है, तो इसलिए कि उन्होंने बिना किसी कर्कश कटुता के, किन्तु बिना किसी लाग-लपेट के भी अपनी पार्टी के विगत के काले पन्नों को खोलने का दुस्साहस किया है, जिसे यदि कोई और करता, तो मुझे संदेह नहीं, पार्टी उसे ‘साम्राज्यवादी प्रोपेगण्डा’ कह कर अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे रखना ज्यादा सुविधाजनक समझती; यह वही पार्टी है, जो मार्क्स की क्रिटिकल चेतना को बरसों से ‘क्षुद्र चेतना’ (false consciousness) में परिणत करने के हस्तकौशल में इतना दक्ष हो चुकी है, कि आज स्वयं उसके लिए छद्म को ‘असली’ से अलग करना असंभव हो गया है।

जिन दो घटनाओं ने मोहित सेन के लिबरल-मार्क्सवादी विश्वासों को एक झटके से हिला दिया वे भारतीय पूर्व सीमा पर चीनी सेनाओं का आक्रमण और कालान्तर में चेकोस्लोवाकिया के समाजवादी देश पर सोवियत संघ और वार्सा देशों की सेनाओं का हिंसात्मक हस्तक्षेप थे। दोनों का लक्ष्य ही पाशविक शक्ति द्वारा समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का खंडन करके स्वयं मार्क्स के मानव मुक्ति के आदर्श को कुचलना था। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी का चीन के आक्रमण को एक ‘प्रगतिशील कदम’ मानना वह निर्णायक क्षण था, जब पार्टी के बीच फूट अनिवार्य हो गयी। यह वह समय था जब अर्से से पार्टी के भीतर पकते फोड़े फूट कर ऊपर आ गये। कौन जानता था, कि जो पार्टी देश-विभाजन की भूमिका में इतना आगे रही थी, उसकी अदूरदर्शी अवसरवादिता एक दिन स्वयं उसे छोटे-छोटे दलों में विभाजित कर देगी। जो पार्टी बरसों से अपने ‘बाहरी दुश्मन’ का चेहरा न पहचान पायी, उसे क्या मालूम था, कि वह घुन की तरह उसके भीतर बैठा था, उसे इस हद तक खोखला बनाता हुआ कि जहाँ उसे नेहरू अपना वर्ग शत्रु जान पड़ता था, वहाँ ‘चेयरमैन माओ अपना चेयरमैन’ दिखायी देते थे!

मोहित सेन जैसे समवेदनशील व्यक्ति पार्टी की इन उलटवासियों से अवश्य विक्षुब्ध होते थे, किन्तु इसका कारण कुछ नेताओं की गलतियों में ढूँढ़ कर छुट्टी पा लेते थे। उन्होंने कभी गहरे में जा कर इसका कारण पार्टी के लेनिनवादी तानाशाही ढाँचे में नहीं खोजा जहाँ हर स्वाधीन आवाज को दबा दिया जाता था। न ही उन्होंने कभी पार्टी की चरम बौद्धिक दासता और सिद्धान्तहीन दिशाहीनता का निर्भीक आलोचनात्मक विश्लेषण किया जो उसे उत्तरोत्तर भारत की जन-चेतना से उन्मूलित

करती गयी और अन्ततः उसे एक हाशिए की पार्टी बनाकर छोड़ गयी। क्या यह इतिहास की क्रूर विडम्बना नहीं थी कि जो पार्टी अपने को 'किसान-मजदूर वर्गों' का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टी घोषित करती आयी थी, वह इस हद तक सैद्धान्तिक दिवालियापन का शिकार हो गयी, कि संकट की हर निर्णायक घड़ी में वह कभी ब्रिटेन, कभी सोवियत संघ, कभी चीन की पार्टियों से मार्ग-निर्देशन पाने के लिए मुंह जोहने लगी। मोहित सेन का कम्युनिस्ट पार्टी से मोहभंग अवश्य हुआ, किन्तु कोई वे ऐसा वैकल्पिक रास्ता नहीं ढूँढ़ सके जो पार्टी के बाहर एक व्यापक जनवादी राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण करने में योगदान कर सके। यह करने के बजाय जो रास्ता मोहित सेन और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने चुना, वह काँग्रेस से हाथ मिला कर पीछे मुड़ने का रास्ता था, जो अन्धी गली में जाता था। मोहित सेन भूल गये कि इन्दिरा की काँग्रेस वह नहीं है, जो कभी नेहरू और गांधी के लोकतांत्रिक आदर्शों को मूर्तिमान करती थी। यह एक विचित्र विरोधाभास था कि जब कम्युनिस्ट पार्टी नेहरू का साथ दे कर भारत की राष्ट्रीय चेतना को अधिक परिपक्व और व्यापक कर सकती थी, तब वह उसका विरोध कर रही थी और अब ऐसी घड़ी में जब काँग्रेस इन्दिरा गांधी के हाथ की कठपुतली बन चुकी थी, तब वह उसका जोर-शोर से समर्थन कर रही थी। आपात-काल के भीषण दिनों में यह विरोधाभास कितना तीखा और भयावह बन गया, मोहित सेन इसका वर्णन तो करते हैं, किन्तु इतनी कठोर परीक्षा के बाद भी इन्दिराजी के प्रति उनका सम्मोहन कम नहीं होता।

हम कितना अपने अतीत की गलतियों से सीखते हैं कहना मुश्किल है। शायद जीवन के हर चरण में नयी परिस्थितियों के बीच हम अपनी गलतियों को पुनः दुहराने के लिए अभिशप्त हैं। मोहित सेन की आत्मकथा से यह तो पता चलता है, कि सारी ऊंच-नीच के बावजूद मार्क्सवाद में उनकी आस्था अटूट बनी रहती है, किन्तु दुनिया का कम्युनिस्ट आन्दोलन मानव-मुक्ति के मार्क्सवादी आदर्श के लिए कितना घातक सिद्ध हुआ है, इसके बारे में वह कुछ नहीं कहते। समाजवाद के मानवीय आदर्शों को सोवियत संघ की स्तालिनवादी नीतियों और उसके नेतृत्व में चलनेवाली कम्युनिस्ट पार्टियों ने कितना विकृत और कलुषित किया है, मोहित सेन इस बारे में भी चुप रहते हैं। हम सिर्फ आशा कर सकते हैं, कि मोहित सेन ने अपनी आत्मकथा में जो रिक्त स्थान छोड़े हैं, उन्हें कभी कोई कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी भविष्य में भर सकने का साहस और विवेक जुटा पाएगा।

A Traveller and the Road -

The Journey of an Indian Communist – Mohit Sen

## हिंदी लेखन, विचारधारा और इतिहास बोध

सत्यमित्र दुबे\*

1

पिछले दो तीन दशकों के हिंदी लेखन पर नजर दौड़ाने से यह बात स्पष्ट होती है कि इसमें पक्षधरता, विचारधारा, इतिहास बोध, कलावाद बनाम जनवाद, व्यक्ति बनाम वर्ग अथवा समाज का सवाल प्रचुर मात्रा में उठाया गया है। पश्चिम के कुछ लेखकों ने जब से इतिहास के अंत, विचारधारा के अंत और उत्तर आधुनिकता की चर्चा चलाई है, तबसे हिंदी लेखन में भी इनकी चर्चा है। कोई भी विवेकशील व्यक्ति इससे इंकार नहीं कर सकता कि समाज और संस्कृति के विश्लेषण में इतिहास का महत्वपूर्ण स्थान है। नई विचारधाराओं का उद्भव, सामाजिक परिवर्तन के दिशा निर्धारण में उनकी भूमिका और इतिहास के कालखंड विशेष में पारस्परिक संबंध है। सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता की प्रक्रिया, उनके पीछे अंतर्निहित सामाजिक शक्तियां, उनका राजव्यवस्था, अर्थतंत्र, संस्कृति, साहित्य से अंतर्संबंध और इनकी विवेकपूर्ण समझ इतिहास बोध है। जब तक समाज और संस्कृति के क्षेत्र में परिवर्तन, आंदोलन, संघर्ष; नये चिंतन के प्रस्फुरण; विज्ञान, प्रविधि के क्षेत्र में नए आविष्कार; राजनीति, अर्थतंत्र के क्षेत्र में गतिशीलता की प्रक्रिया विद्यमान है; तब तक इतिहास के अंत का सवाल ही नहीं पैदा होता है। इसी तरह जब तक समाज के विभिन्न समूहों और वर्गों के हित में टकराहट है, उनके सामाजिक पुनर्रचना के सपने और मनोवांछित मनुष्य के निर्माण की उनकी साध है, तब तक विभिन्न विचारधाराओं का अस्तित्व बना रहेगा।

लेकिन हिंदी लेखन में इन सवालों को लेकर कुछ अतिरेक, कुछ समझ की कमी और कुछ दलगत राजनीति के प्रभाव के कारण अति उत्साह है। यह बात केवल आलोचना के क्षेत्र में ही लागू नहीं होती हैं। कविताओं के संकलन, कहानी संग्रह और उपन्यासों की भूमिकाएं भी इन सवालों को लेकर प्रायः संदर्भ से असंपृक्त उबाउ

\*देश-विदेश के अनेक विश्वविद्यालयों, शोध केंद्रों से जुड़े रहे प्रो. दुबे जाने माने समाजशास्त्री और हिंदी पाठकों के लिए एक सुपरिचित स्तंभ लेखक हैं। किसी दल विशेष की राजनीति की लक्ष्मण रेखा से परे हट कर, वे समाजवादी बुद्धिजीवियों के संगठन 'समाजवादी विचार मंच' के राष्ट्रीय संयोजक भी हैं। पिछले कुछ वर्षों में अनेक सद्यः प्रकाशित हिंदी कृतियों की इनके द्वारा लिखित समीक्षाएं बड़े ही ध्यान से पढ़ी गई हैं।

उद्धरणों से भर दी जाती हैं। दलगत राजनीति से जुड़े कम्युनिस्ट लेखकों के प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ, जन संस्कृति मंच जैसे बहुरंगी संगठनों की आपसी टकराहट, 'हंस' 'आलोचना' तथा अनेक लघु पत्रिकाओं के लेखों और टिप्पणियों में बहुधा विचारधारा की सैद्धांतिक बहस का कमजोर मुखौटा टूटकर अशालीनता, गाली-गलौज और चरित्र-हनन में बदल जाता है। इसका राजनीतिक मताग्रह से भरा एक दूसरा चतुराई भरा पक्ष है। यदि कोई लेखक अपने साहित्यिक लेखन की गुणवत्ता के प्रति ईमानदार रह कर इन गिरोहों से अलग रहता है तो या तो उसकी पूरी तौर पर अनदेखी करने की चेष्टा की जाती है अथवा उसके योगदान को हलका बनाया जाता है। इस प्रवृत्ति के कई दुष्परिणाम हैं। विश्वविद्यालयों में नियुक्ति-प्रोन्नति की लालसा, थोड़ी सी बची प्रचारित पत्रिकाओं में छपने की इच्छा और आलोचना के क्षेत्र में आसीन लोगों द्वारा मान्यता न मिलने के आतंक के कारण लेखकीय स्वायत्तता और बौद्धिक ईमानदारी का हनन होता है। यह परिदृश्य लेखक और पाठक के बीच के प्रत्यक्ष संबंधों को तोड़ता है। समीक्षकों और पत्रिकाओं के बंधे बंधाए वैचारिक साचें में ऐडजस्ट होने वाले लेखन का नतीजा है कि यह हास्यास्पद पैफूलेटबाजी में बदलता गया है।

फिर भी विचारधारा और इतिहास बोध की प्रासंगिकता पर हिंदी लेखन में रामविलास शर्मा, निर्मल वर्मा और विजय देव नारायण साही के अपने परिप्रेक्ष्य हैं। रामविलास शर्मा के लेखन के दो पक्ष हैं। एक ओर तो उनके लेखन में मनीषी और विश्लेषक की झलक है। दूसरी ओर कम्युनिस्ट पार्टी के एक स्वघोषित कार्ड होल्डर के रूप में वे साहित्यिक समीक्षा में मार्क्सवादी विचारधारा के मुहावरों का प्रयोग करते हुए, साहित्यिक लेखन के आधार पर नहीं बल्कि कम्युनिस्टों से भिन्न मत रखने वालों के प्रति, तथ्यों के विपरीत जाकर भी आक्रामक हैं। विचारधारा के छद्म के इस निजी घात प्रतिघात में विभिन्न गुटों से जुड़े कम्युनिस्ट लेखकों द्वारा अब रामविलास शर्मा पर भी हमला किया जा रहा है।<sup>1</sup>

दूसरी ओर निर्मल वर्मा का मानना है कि विज्ञान प्रकृति की चिरंतनता का उल्लंघन करने के कारण और 'आइडिओलॉजी' भविष्य के लिए वर्तमान पर बलात्कार करने के कारण मनुष्य और कला का अमानवीकरण करते हैं।<sup>2</sup> उनके अनुसार भारत के केंद्रीय सांस्कृतिक संकट को देखते हुए व्यक्ति स्वातंत्र्य बनाम सामूहिकता की बहस अप्रासंगिक है। हिंदुस्तान में इस संकट के विषय में काम सिर्फ राजनीति में पहले गांधी फिर बाद में लोहिया के कर्म-चिंतन में हुआ। साहित्य इससे अछूता रहा जबकि तीसरी दुनिया के अन्य देशों में साहित्यकार इस विषय में सजग रहे हैं। उनका कथन है 'जब किसी साहित्य में सार्थक, जीवंत और संयत समीक्षा-पद्धति मुरझाने लगती है तो उसके साथ अनिवार्यतः एक परजीवी वर्ग, एक साहित्यिक माफिया पनपने लगता है...इन लोगों का साहित्य और संस्कृति के मूल्यों से कोई सरोकार नहीं, किंतु पिछले वर्षों में इनके हाथों में एक छद्म किस्म की ताकत जमा होती गई है।'<sup>3</sup>

साही जायसी पर किए गए शोध के जरिए हिंदी आलोचना के क्षेत्र में गहन विश्लेषण का मानक स्थापित करते हैं। विचारधारा के संदर्भ में वे मनोरंजक और संदेशवाहक दोनों तरह के साहित्य की सीमाओं को उद्घाटित करते हैं। उनके अनुसार 'वस्तुतः मात्र मनोरंजक और मात्र संदेशवाहक साहित्य अक्सर एक ही सिक्के के दो पहलू साबित हो जाते हैं। मनोरंजक साहित्य यह देखने के लिए तैयार ही नहीं होता कि जिंदगी को अर्थ से आलोकित करने वाले तत्व क्या हैं और कहां हैं ?...मात्र संदेशवाहक साहित्य यह मान कर चलता है कि मूलभूत प्रश्न और मूलभूत उत्तर सब प्राप्त हो चुके हैं...साहित्य में किसी दार्शनिक सिद्धांत और विचारधारा का वहन करना एक बात है और अपने युग की संपूर्ण चिंतनशीलता में उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात करना दूसरी बात है। यह आत्मस्थ चिंतनशीलता गंभीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है।'<sup>4</sup> साही अपनी इन कसौटियों पर जायसी के पद्मावत के साहित्यिक अवदान और इतिहास बोध को कसते हैं। उनके अनुसार जायसी की सृजनात्मक क्षमता मात्र मनोरंजन और मात्र आध्यात्मिक संदेश दोनों के खतरे से उपर उठने में है। जायसी ने इतिहास और युग की निर्मल छवि देखी और अपने आसपास की शताब्दियों में वे अकेले कवि हैं जिन्हें इस युग दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ...।

हिंदी के इन दो चिंतनशील विश्लेषकों ने दशकों पूर्व जिस माफिया प्रवृत्ति, सांस्कृतिक संकट के प्रति शत्रुमुर्गी दृष्टिकोण और विचारधारा की संदेशवाहकता के नाम पर चिंतनशीलता और बौद्धिक सघनता से पलायन की बात की है, उस पर खलीफाई अहम, निजी राग-द्वेष भरे आरोप, विचारधारा की आधी अधूरी समझ से उपजी छापामार लड़ाई जैसी आक्रामकता के कारण समुचित ध्यान नहीं दिया गया। उलटा जन संघर्षों, श्रमिक आंदोलनों से आजीवन जुड़ाव, लोहियावादी राजनीतिक विचारधारा से सक्रिय रूप से संबद्ध होने के बाद भी साहित्य में संदेशवाहक विचारधारा की सीमाओं से पूर्णतः भिन्न साही पर शीत युद्ध काल में कामरेडों की ओर से अमेरिका द्वारा प्रायोजित सांस्कृतिक स्वतंत्रता के मंच से जुड़ा होने का आरोप लगाया गया। गांधी और लोहिया की राजनीति के संदर्भ में एक सजग चिंतक के नाते सांस्कृतिक संकट की ओर इंगित करने वाले निर्मल पर भूमंडलीकरण के युग में अन्य संकटों के साथ गहराते सांस्कृतिक संकट के बीच कम्युनिस्ट लेखकों ने 'भगवावादी' होने का हथियार दाग दिया।

हिंदी लेखन में मार्क्सवाद की आधी अधूरी समझ के नाम पर विचारधारा, इतिहास बोध और परंपरा को लेकर काफी भ्रम की स्थिति है। इसकी सफाई के लिए मार्क्स के पूर्ववर्ती, स्वयं मार्क्स और मार्क्स के बाद के चिन्तन में इन पर किस परिप्रेक्ष्य में विचार किया गया है, इस पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

मार्क्स के पूर्ववर्ती लेखकों में फरग्युसन, हीगेल और सेंट साइमन ने इतिहास के दर्शन पर जोर दिया जिसके अंतर्गत सामाजिक विकास और बौद्धिक प्रगति की अवधारणा अंतर्निहित है। इन लेखकों ने इतिहास का कालखंडों में विभाजन किया। उनके अनुसार प्रत्येक नया कालखंड अपने पूर्ववर्ती कालखंड से सामाजिक परिस्थितियों और विचार के स्तर पर अधिक विकसित होता है। विचार कालखंड की परिस्थितियों से जुड़े होते हैं। हीगेल की द्वंदात्मक-ऐतिहासिक व्याख्या का प्रभाव मार्क्स के विश्लेषण पद्धति तथा साइमन के मिले जुले इतिहासवादी-विज्ञानवादी चिंतन का प्रभाव आगस्त कौंत के विचारों पर पड़ा। कौंत को समाजशास्त्र का जनक माना जाता है।

मार्क्स के अलावा इतिहासवादी चिंतन, कालखंडों के साथ विचारों के संबंध, विचारधारा और विश्वदृष्टि के सवाल पर उसके बाद के विचारकों- विलहेम डिल्थे, मैक्सशेलेर, हुसरल और कार्ल मानहाइम ने बहुत गहराई से विचार किया है।<sup>5</sup> डिल्थे के अनुसार कोई भी दार्शनिक विचार न तो पूर्ण रूप से सत्य होता है न तो सार्वभौम रूप से स्वीकार्य अथवा वैध माना जा सकता है। वह केवल आंशिक सच्चाई प्रकट करता है। सभी दार्शनिक पद्धतियां केवल एक सीमित मात्रा में विश्वदृष्टियों को उद्भाषित करती हैं। डिल्थे का चिंतन दार्शनिक सापेक्षवाद का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अनुसार विचार समय सापेक्ष हैं। हुसरल इतिहासवाद, विश्वदृष्टिवाद और डिल्थे की स्थापनाओं का खंडन करता है। ऐसा नहीं है कि विश्वदृष्टि को उसके चिंतन में कोई स्थान नहीं है। उसका मुख्य जोर इस बात पर है कि विज्ञान और विचारधारा में अंतर स्पष्ट होना चाहिए। किसी विचारधारा में विश्वास करनेवाला विश्व पर केवल एक परिप्रेक्ष्य अपनी विचारधारा से जुड़ी आस्था-से विचार करता है। वह अपनी मान्यताओं, उसकी दुर्बलताओं के प्रति प्रश्नाकुल नहीं होता है।

हुसरल ने अपने समय के दार्शनिक संकट पर विचार किया। मैक्स शेलर की मुख्य चिंता अपने समय के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संकट से है। वह पूंजीवाद की बुराइयों से निपटने के लिए नैतिक पुनर्जागरण पर जोर देता है। उसके चिंतन का केंद्र बिंदु 'परिप्रेक्ष्य' है। उसके अनुसार ज्ञान परिप्रेक्ष्यात्मक होता है। परिप्रेक्ष्य से उसका अर्थ व्यक्ति की सामाजिक स्थिति तथा उससे जुड़े दृष्टिकोण से है। सभी परिप्रेक्ष्य एकपक्षीय और आंशिक होते हैं। वह ज्ञान और विचारधारा में अंतर करता है। शेलर इस बात पर बल देता है कि आज के समाज में अनेक तरह की राजनीतिक, आर्थिक विचारधाराएं हैं। बुद्धिजीवी की मुख्य भूमिका उनका विश्लेषण करना है। विचारधारा और परिप्रेक्ष्य के एकपक्षीय दृष्टिकोण के स्थान पर सम्यक ज्ञान के लिए वह असंबद्ध बुद्धिजीवियों के वस्तुपरक विश्लेषण एवं ज्ञान के समाजशास्त्र पर आश्रित पद्धति पर जोर देता है।

अनेक विश्लेषणकों की तरह शेलर भी ऐसा मानता है कि मार्क्स के लिए सभी सामाजिक चिंतन मात्र विचारधारा है। उसके चिंतन में केवल वर्गहित का परिप्रेक्ष्य है। ज्ञान अथवा सत्य में उसकी रुचि नहीं है। जेटलिन इस व्याख्या से असहमति व्यक्त करता है। विचारधारा के सवाल पर मार्क्स को समझने में उसके वाचाल समर्थकों और पूर्वाग्रही विरोधियों दोनों ने समान रूप से गलती की है। मार्क्स अपने विश्लेषण को वैज्ञानिक मानता है। दास कैपिटल में क्लासिकी अर्थशास्त्र की आलोचना करते हुए वह स्पष्ट करता है कि रिकार्डों के लेखन तक इसमें वास्तविक वैज्ञानिक शोध, पक्षपातरहित जाँच-पड़ताल और सच्चाई की खोज का समावेश है। लेकिन उसके बाद सिद्धांतों की सच्चाई के खोज के स्थान पर राजनीतिक अर्थतंत्र में केवल इस बात पर बल है कि यह सिद्धांत पूँजी के हित में और राजनीतिक रूप से खतरनाक है या नहीं? इस तरह मार्क्स का असली मंतव्य विचारधारात्मक व्याख्या की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए पक्षपातरहित जाँच, सत्य की खोज और वैज्ञानिक विश्लेषण से है। अपने देश में सुबह शाम मार्क्सवाद की शपथ खाने वाले कथित बुद्धिजीवी, विचारधारा की लड़ाई के नाम पर प्रगतिशील लेखक संघ, जनवादी लेखक संघ और जन संस्कृति मंच के अपने अपने तबेले में एक दूसरे पर दुलत्ती झाड़ने वाले इस सच्चाई को समझने से आँखें चुराते रहे हैं।

उपरोक्त चारों विचारकों से प्रभावित होते हुए भी विचारधारा, यूटोपिया, ज्ञान और उनका इतिहास के कालखंडों से संबंध के विवेचन को कार्ल मानहाइम नया मोड़ देता है।<sup>6</sup> मानहाइम विचार और ज्ञान का इतिहास के कालखंडों के साथ डिल्थे द्वारा प्रतिवादित सापेक्षवादी व्याख्या से अपनी असहमति व्यक्त करता है। उसके अनुसार विचार और कालखंड संबंध-मूलक हैं। कालखंडों से जुड़े विचार केवल अपने युगीन परिप्रेक्ष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। विचारधारा को वह अपने समय के वर्चस्वपूर्ण समूह, वर्ग, दल का दृष्टिकोण मानता है। विचारधाराएं वर्ग अथवा दल के हित का प्रतिनिधित्व करते हुए सर्वदा एकांगी और पक्षपात पूर्ण होती हैं। विचारधाराओं को वह उनके दायरे के आधार पर- पक्ष-विशेष और समग्र इन दो हिस्सों में विभाजित करता है। अपने समय जो विचार अवास्तविक प्रतीत होते हैं, जो थोड़े से लोगों द्वारा स्वीकृत होते हैं और जो समाज के पुनर्निर्माण की भावी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं, मानहाइम उन्हें यूटोपिया कहता है। आज जो विचार यूटोपियन लगते हैं, वे कल बहुसंख्या द्वारा मान्य हो जाने पर विचारधारा का रूप ग्रहण कर सकते हैं। इन दोनों से भिन्न सम्यक ज्ञान है। वस्तुपरक विश्लेषण और सम्यक ज्ञान के लिए मानहाइम भी असंबद्ध बुद्धिजीवी की भूमिका पर जोर देता है। सार्वभौम ज्ञान पर बल देनेवाले दार्शनिक तत्व विज्ञान से अलग, इतिहास के कालखंडों से संबंधित विचारों की व्याख्या के लिए ज्ञान के समाजशास्त्र के पद्धतिगत विकास में मानहाइम का अप्रतिम योगदान है।



उपरोक्त विचारों के संदर्भ में हिंदी लेखन पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनोरंजन और विचारधारा से अलग हट कर साही जिस बौद्धिक सघनता की बात करते हैं, वह स्तरीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य में अत्यंत महत्वपूर्ण है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में पूँजीवाद-उपनिवेशवाद के गठजोड़ से सामान्य रूप से पूरे विश्व और विशेष तौर पर उपनिवेशवाद से आक्रांत देशों में जिस तरह का बहु-आयामी संकट पैदा हुआ, उसमें भूमंडलीकरण के युग में और बढ़ोत्तरी हुई है। इस संकट के राजनीतिक-आर्थिक पक्ष पर तो भारत में प्रगतिशीलता का जाप करने वाले हिंदी लेखकों ने थोड़ा बहुत ध्यान दिया है लेकिन वे अपनी साहित्य की राजनीति में सांस्कृतिक संकट के सवाल से आँखें चुराते रहे हैं।

निर्मल वर्मा इसे केंद्रीयता में लाकर एक बड़ी रिक्तता को भरते हैं। इस देश के अन्यतम समाजशास्त्री धूर्जटी प्रसाद मुखर्जी कहते हैं कि जिस इतिहास, राजनीतिशास्त्र और अर्थविज्ञान को मैंने पढ़ा था, वह सब भारतीय संदर्भों से कटा था। तब मैंने महसूस किया कि मैं भारतीय हूँ। भारतीय होने के अलावा मैं और कुछ हो नहीं सकता। मैं अपने व्यक्तित्व को अपनी संस्कृति की समझ द्वारा ही विकसित कर सकता हूँ। हमारा पहला कार्य अपनी परंपरा का अध्ययन करना है। मैंने देखा है कि अपने अज्ञान और भारतीय यथार्थ से कटे रहने के कारण हमारे देश के प्रगतिशील समूह बौद्धिक समझ और राजनीतिक-आर्थिक सक्रियता के क्षेत्र में असफल रहे हैं। वे तब बोध और संस्कृति के इस संकट पर ही बल देते हैं।<sup>7</sup>

### 3

यदि हम अपने पिछले एक डेढ़ सदी के राजनीतिक-सामाजिक विचारधाराओं के इतिहास पर निगाह डालें तो परंपरा और आधुनिकता की निरंतरता और नई विचारधाराओं के उद्भव में परंपरा के योगदान की बात समझ में आ सकती है।

गीता के कर्म के दर्शन से प्रेरणा लेते हुए तिलक अपनी राजनीतिक विचारधारा को बौद्धिक आयाम देते हैं। वेदांत के दर्शन से उत्प्रेरित होकर विवेकानंद ने न केवल हिंदू धर्म के मानवीय पक्ष को और भी सशक्त किया बल्कि पूरे देश के पुनर्जागरण और दरिद्रनारायण की सेवा के लिए संगठन की नींव डाली। मध्ययुगीन विश्वव्यापी रूढ़िवादिता के बीच कबीर और तुलसी दोनों अपने ढंग के क्रांतिकारी हैं। नहिं कोई दुखी दरिद्र न दीना। नहिं कोई अबुध सुलक्षण हीना ॥ दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहुं नहि व्यापा ॥ उस युग अथवा उसके पहले भी राज्य की ऐसी कल्याणकारी, समतावादी विचारधारा पूरी दुनिया में किसी अन्य ने प्रस्तुत की हो, इसका मुझे ज्ञान नहीं है। गांधी अपनी रामराज्य की विचारधारा तुलसी से लेते हैं।

सम्यक इतिहास बोध के अभाव में यह मान लिया जाता है कि एकीकृत भारत और उसकी राष्ट्रीयता का विकास ब्रिटिश उपनिवेशवाद के प्रभाव की देन है। वस्तुतः

भारत और चीन दो ऐसे देश हैं जिनमें अपनी भौगोलिक सीमाओं की समझ और उससे जुड़ी सांस्कृतिक एकता का बोध इनकी सभ्यता के उषा-काल से ही रहा है। कुछ लोग इस बात की पुष्टि करने वाले अनगिनत सांस्कृतिक स्रोतों के ऐतिहासिक मूल्य को लेकर नाक भौं सिकोड़ सकते हैं। इस पूरे उपमहाद्वीप में फैले अशोक के स्तंभ और शिलालेख, कालिदास के रघुवंश और कुमारसंभवम् में इस धरती के विभिन्न प्रदेशों का काव्यमय मनोहारी वर्णन और प्रयाग स्थित समुद्रगुप्त के शिलास्तंभ पर उत्कीर्ण उसके राज्य के अंतर्गत आने वाले प्रदेशों के नाम, बाबरनामा में बाबर द्वारा विजयानगरम, गुजरात, बंगाल के शासकों के साथ स्वयं अपने जीते प्रदेशों, पहाड़ों, वनस्पतियों का वर्णन करते हुए इस संपूर्ण भूमि को हिंदुसतान कहना, इस देश की सदियों पुरानी एकता की चेतना के ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने इस देश के सम्मुख जो चुनौती उपस्थित की उससे जुड़े आरंभिक राष्ट्रीय प्रतिरोध की गूंज पूरे देश में होने वाले किसान-आदिवासी विद्रोह में सुनाई पड़ी। हैदर अली, टीपू, बाजीराव प्रथम, महाद जी सिंधिया, बंगाल के नवाबों के उद्घाटित-अनुद्घाटित अभिलेखों, उनके आपसी पत्राचार, उन्नीसवीं सदी के पहले दो दशकों में ईस्ट इंडिया कंपनी के वर्चस्व को अस्वीकार करते हुए अराकान, बहावलपुर, त्रावंकूर जैसे अनेक सुदूर राजघरानों द्वारा लालकिले में बैठे नख-दंत हीन मुगल बादशाह के पास खिल्लत और सनद के लिए भेजी गई अर्जियाँ अंग्रेज विरोधी देशी विचारधारा की साक्षी हैं।

पश्चिमी दुनिया के संपर्क में आने के बाद, और विशेष कर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में, बौद्धिक चिंतन और दिशायुक्त कर्म से संचालित चार तरह की भारतीय विचारधाराएं उभरती हैं। पहली विचारधारा में ऐसे लोग सम्मिलित किए जा सकते हैं जो भारतीय अथवा पूर्व की परंपरा का पश्चिमी विचारों के साथ समन्वय और उपनिवेशवादी प्रशासन के साथ सहकार के समर्थक हैं। इसमें राममोहन रॉय का नाम सर्वोपरि है। दूसरी विचारधारा कट्टर, रूढ़िवादी हिंदुओं, मुसलमानों की है। इसमें से एक वर्ग हर हालत में अंग्रेजों के राज को समाप्त करना चाहता है (बहावी और सन्यासी) और दूसरा उससे सहयोग कर लाभ उठाने की इच्छा रखता है। तीसरी विचारधारा अपनी परंपरा की पुनर्व्याख्या कर, अपनी आंतरिक वैचारिक उर्जा के बल पर अपने युग और उसके बाद भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तीव्र करना चाहती हैं। इसमें स्वामी दयानंद का नाम प्रमुख है। चौथी विचारधारा अंग्रेजी राज के अन्याय से असंतुष्ट, यूरोपीय भाषाओं, वहाँ जाकर उसकी सामाजिक-राजनीतिक स्थिति से परिचित अथवा देश और विदेश में लड़ाइयों को लड़ते अंग्रेजों के युद्ध संचालन से परिचित लोगों की है। इसमें सर्वोपरि नाम अजीमुल्ला और भारतीय सिपाहियों का है।

राजा राममोहन रॉय से जुड़े नव जागरण और उसकी विरोधी तात्कालीन रूढ़िवादी विचारधारा की काफी चर्चा हो चुकी है। दयानंद जिस तरह वैदिक पद्धति का प्रचार-प्रसार करते हैं, उसके कारण आज अपने को प्रगतिशील समझनेवाले उन्हें पुनरुत्थानवादी मान लेते हैं। लेकिन अपनी परंपरा से वैचारिक उर्जा लेते हुए वे अस्पृश्यता, सामाजिक कुरीतियों, जन्म के आधार पर सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण का विरोध करते हैं, संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी हिंदी को अपने लेखन-प्रवचन का माध्यम बनाते हैं और सन 1857 के दमन के बाद की पस्त हिम्मती के बीच सबसे पहले खुल कर स्वराज की बात करते हैं। अनेक सूत्रों से इस बात की पुष्टि होती है कि 1857 की क्रांति में संन्यासियों द्वारा फौजी छावनियों में इसका संदेश भिजवाने में उनके गुरु बिरजानंद के साथ दयानंद की भूमिका थी। उनकी बातें उस युग को ध्यान में रखते हुए अति प्रगतिशील थीं।

यह सही है कि उपनिवेशवादी शासन के विरोध में ही राष्ट्रीयता की स्पष्ट विचारधारा का जन्म हुआ। उन्नीसवीं सदी में इसका चरमोत्कर्ष सन 1857 की जनक्रांति में हुआ। कुछ साम्यवादी लेखक आज भी सन 1857 की क्रांति को गदर अथवा सिपाही विद्रोह कहते हैं। मुख्य धारा के इतिहासकारों ने शायद ही यह समझने का प्रयत्न किया हो कि क्या इसके पीछे कोई सुनियोजित योजना और विचारधारा थी? यदि थी तो इसके प्रणेता कौन थे और उनकी पृष्ठभूमि क्या थी? स्वयं अपने उठाए गए कदम को वे किस तरह परिभाषित कर रहे थे? कानपुर से निकलने वाले विद्रोहियों के अखबार का 'पयाम ए आजादी' नाम उनकी राष्ट्रीयता और आजादी की विचारधारा को स्पष्ट करता है। अंग्रेजों ने उसके संपादक-बहादुर शाह जफर के पौत्र मिर्जा बेदार बख्त की क्रूरता से हत्या की थी। भारत में पत्रकारिता के इतिहास और पत्रकारों पर हुए दमन के जिक्र में शायद ही किसी लेखक ने भूले भटकते इस अखबार और इस शहीद का नाम लिया हो। अनेक अंग्रेज लेखक इस क्रांति की योजना और रणनीति का श्रेय अजीमुल्ला और उसके एक अन्य सहयोगी मुहम्मद अली खान को देते हैं। उनके अनुसार मुहम्मद अली काफी दिनों तक इंग्लैंड में रहा था और बहुत ही पढ़ा लिखा था। वे अजीमुल्ला के अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा पर अधिकार, इंग्लैंड प्रवास के दरम्यान वहाँ पर उसके उच्चस्तरीय संबंध, क्रीमिया के युद्ध मोर्चे पर की उसकी यात्रा, अंग्रेज फौजों की कमजोरी की उसकी जानकारी, तुर्की में उसकी खलीफा और कुछ रूसी एजेंटों से भेंट की चर्चा करते हैं। लंदन टाइम्स का युद्ध संवाददाता रसेल लिखता है कि कुस्तुनुनिया-तुर्की के एक होटल में उसकी भेंट अजीमुल्ला से हुई थी। वहाँ पर मुहम्मद अली खान भी था। बातचीत में अजीमुल्ला ने उससे कहा था कि मेरा कोई मजहब नहीं है। मैं ऐसा बेवकूफ नहीं हूँ कि इन बातों में विश्वास करूँ। अजीमुल्ला ने ही यूरोप से प्रिंटिंग प्रेस का भी प्रबंध किया था जहाँ से पयाम ए आजादी छपता था<sup>8</sup> संदर्भ में सिपाहियों ने विद्रोह की शुरुआत और अगुवाई जरूर की। लेकिन

हरियाणा के गाँवों-कस्बों से लेकर पटना तक और नेपाल की तराई से लेकर नर्मदा तक ऐसा कोई गाँव, नगर नहीं था जिसकी इस जनक्रांति में भागीदारी नहीं थी। इस विद्रोह की लपटें पूर्व में असम के डिब्रूगढ़, दक्षिण में सिकंदराबाद और उत्तर में पंजाब के अनेक शहरों तक पहुंची थी। इसमें हुए जन धन के नुकसान का अंदाज लगा पाना कठिन है। फिर भी लाखों भारतीय इस संग्राम में मारे गए थे और लाखों देश छोड़ कर बाहर चले गए थे। लंदन में बैठा कार्ल मार्क्स इतिहास को मोड़ देनेवाली इस घटना की हर गतिविधि पर पैनी नजर रखे हुआ था। उसने विद्रोह के दरम्यान इस पर करीब एक दर्जन लेख अखबारों में लिखा। लेकिन दमन, दयनीयता और दलाली के मिलेजुले प्रभाव स्वरूप उस समय या उसके बाद के हिंदी लेखन में कहीं इसका जिक्र तक नहीं है।

सन 1857 की क्रांति में अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकने और आजादी का जो जयघोष था वह तीव्र दमन के कारण बिल्कुल दब गया। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में जिन चार तरह की वैचारिक धाराओं का अभ्युदय हुआ था, वे इस काल में भी विद्यमान नहीं। उन्नीसवीं सदी के आखिरी दशकों में थोड़े समय के लिए अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध संग्राम का लावा मणिपुर, नागा पहाड़ी, आज के अरुणाचल, मिजोरम, झारखंड और सरहदी सूबे के आदिवासी इलाकों में रह रह कर फूटता रहा। पूर्वोत्तर और झारखंड के आदिवासी इलाकों में एक नई विचारधारा के रूप में ईसाई धर्म का प्रसार हुआ। इन क्षेत्रों की जनजातियों ने अंग्रेजी सरकार के साथ सहकार का रास्ता अपनाया। राजा और जमीनदार जिनकी संपत्ति और सुख सुविधा 1857 के बाद या तो बची रह गई थी अथवा जिन्हें नए सिरे से प्रदान की गई थी, वे राजभक्ति की विचारधारा से सराबोर थे। इसी तरह राजभक्ति में डूबे, सरकारी पदों पर बैठे, पदवियों से नवाजे गए सर सैयद अहमद खाँ, शिवप्रसाद सितारे हिंद और राजा लक्ष्मण सिंह जैसे लोग सरकार की उदारता, अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार, भाषा और साहित्य के उत्थान पर जोर दे रहे थे। सार्वजनिक जीवन में रुचि रखने वाले, पढ़े लिखे मध्य वर्ग के प्रतिनिधियों जैसे दादा भाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयब जी, उमेश चंद्र बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक, मदन मोहन मालवीय और मोतीलाल नेहरू के मन में नए विचारों के आलोक में देश की समस्याओं से निपटने और राष्ट्रीय विचारों से आप्लावित होकर देश के लिए कुछ करने का संकल्प था। आर्यसमाज (1875), इंडियन असोसिएशन (1876) और इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक प्रश्नों पर सामूहिक विचार विमर्श और भी तेज हुआ।

इन वैचारिक प्रवृत्तियों और संगठनों का प्रभाव हिंदी लेखन पर भी पड़ा। इस काल के हिंदी लेखन में भाषा शैली और राजभक्ति को लेकर शिवप्रसाद सितारे हिंद और भारतेन्दु हरिश्चंद्र में गहरी प्रतिद्वंद्विता दिखाई पड़ती है। यह हिंदी का नव जागरण

काल है जिसके प्रणेता हरिश्चंद्र हैं। इसमें उनकी पत्रिकाओं कवि वचन सुधा' (1867) और 'हरिश्चंद्र मैगजीन (चंद्रिका' 1873) की महती भूमिका है। भारतेंदु का लेखन और व्यक्तित्व दोनों बहुआयामी है। उनकी विचारधारा में राजभक्ति के साथ हिंदी का उत्थान, सामाजिक सुधार, देश की दुर्दशा, औद्योगिक विकास जैसे सवाल प्रमुख हैं। आधुनिक हिंदी साहित्य के निर्माताओं में वे शीर्षस्थ हैं। कविता, नाटक, आलोचना, यात्रा वृत्तान्त, निबंध, उपन्यास लेखन के साथ पत्रकारिता द्वारा हिंदी की श्रीवृद्धि में उनका अप्रतिम योगदान है। अपनी पत्रिकाओं के माध्यम से वे दर्जनों लेखकों को सामने लाने में सफल रहे। उनमें प्रमुख थे-बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र और श्रीधर पाठक। तीनों का हिंदी के नव जागरण काल में साहित्यिक लेखन और पत्रकारिता के क्षेत्र में अति विशिष्ट अवदान है। तत्कालीन परिस्थिति और कानूनी अड़चनों के कारण यह राजभक्ति का काल था जिससे काँग्रेस भी मुक्त नहीं थी। फिर भी तीनों मजहब, जाति, क्षेत्रीयता से ऊपर सर्व भारतीय राष्ट्रीयता, देशभक्ति, सर्वधर्म समभाव, स्वदेशी, महिलाओं, दलितों के उत्थान की विचारधारा में विश्वास रखते हैं। प्रताप नारायण मिश्र ने काँग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था। वे इसके मद्रास और इलाहाबाद अधिवेशनों में कानपुर से डेलीगेट थे। अंग्रेजों द्वारा भारत की जनता के शोषण की सर्वाधिक कचोट मिश्र जी के लेखन में है। अपने अखबार 'ब्राह्मण' के संपादक के रूप में वे जनता के प्रबल पक्षधर हैं। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी श्रीधर पाठक की कविताओं में सामाजिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीय विचारों का गहरा पुट है। वे गोपाल कृष्ण गोखले के अनुयायी थे। अपनी कविताओं में उन्होंने उनके प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित किए हैं। हरिश्चंद्र मंडल के इन सदस्यों में आयु में सबसे बड़ा होते हुए भी सर्वाधिक वैचारिक स्पष्टता बालकृष्ण भट्ट के लेखन में है। विचारधारा के स्तर पर वे राजभक्ति और देशभक्ति के घालमेल के विरोधी थे। वे लोकमान्य तिलक के समर्थक थे। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक और लेखन अधिक प्रौढ़ है। उस समय के साहित्यिको के लेखन और राष्ट्रीय विचारधारा को भट्ट जी संपादन की दृष्टि से परिष्कृत अपनी पत्रिका 'हिंदी प्रदीप' के माध्यम से सुधी जनों तक पहुंचाते रहे।

1880- 90 के दशक में पत्रकारिता के इर्द गिर्द साहित्यिक गतिविधि, खड़ी बोली गद्य के मानकीकरण, हिंदी माध्यम से देश की समस्याओं, अंतर्राष्ट्रीय गतिविधियों पर उर्जायुक्त वैचारिक बहस और राष्ट्रीय विचारधारा के प्रचार के बनारस, इलाहाबाद, कलकत्ता तीन प्रमुख केंद्र थे। बनारस में भारतेंदु का प्रभा मंडल अभी पूरी तरह देदीप्यमान था। इसी दशक में कलकत्ता से हिंदी पत्रकारिता को नया मोड़ देने वाले 'सार सुधानिधि,' 'उचित वक्ता,' 'भारतमित्र' और 'हिंदी बंगवासी' का प्रकाशन आरंभ हुआ। कालाकाँकर के राजा रामपाल सिंह ने हिंदी में मासिक 'हिंदोस्थान' सन 1883 में पहले इंग्लैंड से निकाला। कुछ दिनों बाद इसे हिंदी के पहले दैनिक का रूप देकर मदनमोहन मालवीय के संपादकत्व में वे इसे कालाकाँकर ले आए। संपादन का काम

इलाहाबाद से होता था। इसके संपादक मंडल में उस समय हिंदी पत्रकारिता के सबसे अधिक जाने माने नाम जैसे अमृत लाल चक्रवर्ती, प्रताप नारायण मिश्र, गोपाल राम गहमरी, बालमुकुंद गुप्त, शशिभूषण चटर्जी जुड़े थे। बाद में इसी टीम के बालमुकुंद गुप्त, अमृत लाल चक्रवर्ती और गोपाल राम गहमरी 'हिंदी बंगवासी' से जुड़े।

भारतेंदु से ही थोड़ा बहुत आरंभ होकर हिंदी लेखन और पत्रकारिता में राजभक्ति का स्वर क्रमशः मंद पड़ता गया। उसके स्थान पर राजनीतिक स्वर और राष्ट्रीय विचारधारा का प्रभाव तीव्रतर होता गया। लेखकीय ईमानदारी, जन पक्षधरता, स्वदेशी, सादगी से प्रतिबद्धता और इनके लिए जोखिम उठाने का माद्दा बढ़ा। इस काल में इन कसौटियों पर बालमुकुंद गुप्त बिलकुल खरे उतरते हैं। उनके पत्रकार जीवन का आरंभ सन 1886 में उर्दू के 'अखबार ए चुनार' के संपादन से आरंभ होता है। इनके देशभक्ति पूर्ण लेखन को राजभक्त मालिक बर्दाश्त न कर सका और स्वाभिमानी गुप्त जी ने नौकरी को लात मार दिया। उनकी संपादकीय क्षमता के आधार पर वे उर्दू के अत्यंत सम्मानित पत्र 'कोहिनूर' के 1887 में संपादक नियुक्त हुए। हिंदी पत्रकारिता में रुचि के कारण मालवीय जी के निमंत्रण पर वे हिंदोस्थान के संपादकीय विभाग में आए। राजा रामपाल सिंह ने इस आधार पर कि ये 'गवर्नमेंट' के खिलाफ कड़ा लिखते हैं' फरवरी 1991 में उन्हें नौकरी से निकाल दिया। उस समय इसके विरुद्ध साहित्यिक और पत्रकार जगत में व्यापक प्रतिक्रिया हुई थी। इसके बाद वे कलकत्ता के हिंदी बंगवासी और फिर भारतमित्र के संपादक पद पर नियुक्त हुए। भारतमित्र का उनका संपादन काल न केवल उनके जीवन का बल्कि तत्कालीन हिंदी पत्रकारिता का भी स्वर्णिम काल है।

बौद्धिक साहस के जिन वैचारिक मूल्यों को बालमुकुंद गुप्त प्रतिपादित करते हैं, उसे 1907 में उनके मृत्यु के बाद के काल में प्रेमचंद और गणेश शंकर विद्यार्थी पूरी प्रतिबद्धता के साथ आगे बढ़ाते हैं। अब राजभक्ति पीछे छूट चुकी है और इन दोनों का पूरा जुड़ाव देश, समाज, अपनी जनता और लेखन के द्वारा विदेशी शासन से मुक्ति के लिए लोगों को तैयार करना है। प्रेमचंद भी अपने देशभक्तिपूर्ण लेखन के सवाल पर सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे देते हैं। उनकी कहानियों, उपन्यासों, हंस जैसी पत्रिका और निबंधों के लेखन के मुख्य विषय हैं विदेशी शासन, जमींदारी, महाजनी सभ्यता से उत्पन्न शोषण, किसान, श्रमिक, महिला, दलित के प्रति होने वाले दिन प्रति दिन के अन्याय। उनकी आरंभ में गोखले और बाद में तिलक के विचारों से प्रतिबद्धता थी। भारतीय राजनीति में गांधी के अवतीर्ण होने पर प्रेमचंद आजीवन उनके विचारों से जुड़े रहे। वे राष्ट्रीय और समाजवादी विचारों के प्रबल पक्षधर थे। हंस उनके विचारों की वाहक पत्रिका थी। काँग्रेस सोशलिस्ट पार्टी बनने के बाद प्रेमचंद ने अपने अखबार 'जागरण' और उसके कार्यालय को इस पार्टी को दे दिया था। राष्ट्रीय भावना के प्रचार और जनता के सवाल को लेकर संघर्ष की भूमिका में हिंदी प्रदेशों

में गणेश शंकर विद्यार्थी के दैनिक प्रताप में छपने काली सामग्री का जनमन पर प्रभाव के कारण संपादक और राजनेता के रूप में वे विदेशी सरकार की आँखों में कांटे की तरह चुभते रहे। विद्यार्थी जी और प्रताप दोनों अपने उच्च आदर्शों और जनप्रियता के कारण एक संस्था थे। भगत सिंह की फाँसी और कराची काँग्रेस के समय कानपुर के दंगों में हर कीमत पर सांप्रदायिक सौहार्द्र बनाए रखने की चेष्टा में इस महान व्यक्तित्व को अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ी।

राष्ट्रीय विचारधारा से ओतप्रोत लेखन और कविताओं के क्षेत्र में मैथिली शरण गुप्त, माधव शुक्ल, सोहन लाल द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी, माखन लाल चतुर्वेदी का असाधारण योगदान है।

#### 4

उपरोक्त विवरण से यह बात साफ है कि अपने काल विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों से हिंदी लेखन में स्वतःस्फूर्त, गतिशील विचारधारा का हमेशा प्रभाव रहा है। इसे जब किसी बिल्ला और झंडा विशेष के डंडा से हाँकने का दबाव बनाया गया तो इसमें कुरुचि ओर स्तरहीनता का समावेश हुआ। उन्नीसवीं सदी के अंतिम चतुर्थांश और उसके बाद के समुचित, संपूर्ण भारतीय राजनीतिक, सांस्कृतिक राष्ट्रीय विचारधारा का चरम विंदु सन 1910 और इसके आसपास के वर्ष हैं। यही गांधी के हिंद स्वराज, इकबाल के सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्तां हमारा, बंदे मातरम के क्रांतिकारी लेख और उनके लिए अरविंद की नजरबंदी, बाल गंगाधर तिलक का गीता रहस्य, सावरकर की पुस्तक फर्स्ट वार ऑफ इंडिपेंडेंस, सुब्रमण्यम भारती की तमिल कविताओं, मैथिली शरण गुप्त की भारतभारती और प्रेमचंद की सरकार से टकराहट और उनकी आरंभिक हिंदी पुस्तकों का प्रकाशन का समय है।

उसके बाद के दो दशक में बिखंडनवादी, सांप्रदायिक, जातिवादी, क्षेत्रवादी-नृजातिक विचारधाराओं का तेजी से प्रचार प्रसार होता है। इस काल में मुस्लिम लीग (1906), हिंदू महासभा (1910), द्रविण विचारधारा से उत्प्रेरित जस्टिस पार्टी (1916), नगा क्लब (1918), अकाली दल (1921), राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (1924) की स्थापना होती है। महाराष्ट्र में ज्योतिबा फूले ने उन्नीसवीं सदी के अंतिम समय में जाति व्यवस्था के विरोध में समाज सुधार का आंदोलन चलाया था। उसे दलित वर्गों के संगठन (1919) और डॉ अंबेडकर के विचारों से विशेष बल मिला। भारतेंदु के समय से ही हिंदी में सामाजिक सुधार विषयक लेखन की प्रचुर परंपरा रहने के बाद भी इन आंदोलनों का प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। बिखंडनवादी विचारधाराओं के प्रभाव से भी सब मिला कर इस अवधि में हिंदी लेखन अलग ही रहा। राष्ट्रीय विचारधारा के साथ मिल कर हिन्दी में यह छायावाद का काल है।

सन 1917 में रूस में बोलशेविक क्रांति हुई। भारत में भी कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना (1925) हुई। सन 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। सन् 1936 में लखनऊ में सज्जाद जहीर की पहल और प्रेमचंद की अध्यक्षता में प्रगतिशील लेखक संघ (प्रलेस) का पहला सम्मेलन हुआ। स्मरणीय है कि पाकिस्तान बनते ही सबसे पहले सज्जाद जहीर पाकिस्तान चले गए थे। वहाँ रहना जब दूभर हो गया तो प्रधान मंत्री नेहरू की कृपा से वे किसी तरह फिर से भारत लौट पाए थे। आरंभ में पांच छः वर्षों तक प्रलेस राष्ट्रवादी, समाजवादी, कम्युनिस्ट और सामाजिक सरोकारों में रुचि रखने वाले लेखकों का साझा मंच था। भारत छोड़ो आंदोलन में जब इससे जुड़े बहुत से लेखक जेल चले गए तो कम्युनिस्टों ने इस पर कब्जा कर लिया। उसके बाद स्टालिनवादी तानाशाही साँचे में ढली कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से विचारधारा के नाम पर अपने जेबी संगठन प्रलेस और इप्ता के जरिए साहित्य और संस्कृति की भूमिका की डंडामार कवायद आरंभ हुई।

प्रलेस की विचारधारा के निर्धारण में जब शिवदान चौहान, रामविलास शर्मा, रांगेय राघव जैसे आलोचकों का राजत्व काल था तब तुलसी और कबीर, रामचंद्र शुक्ल और नंददुलारे वाजपेयी, यशपाल, जैनेंद्र और अज्ञेय के लेखन में प्रगतिशीलता और प्रतिगामिता के जीवाणुओं की मात्रा दलगत राजनीति के आधार पर ढूँढी गई। अनेक युवा कम्युनिस्ट साहित्यकार जो आज तबेले में लतिहाव जैसी कम्युनिस्ट लेखकों की आपसी गिरोहबंदी से ईमानदारी से दुखी हैं, उनका विश्वास है कि यह स्थिति कम्युनिस्ट आंदोलन में बिखराव के कारण है। वस्तुतः जब कम्युनिस्ट पार्टी एक थी तब भी हिंदी के सवाल पर राहुल जैसे महापंडित के लिए गुटबंदी के चलते पार्टी में स्थान नहीं था और उन्हें दल से निष्कासित कर दिया गया था। किसी भी कम्युनिस्ट लेखक ने इसके विरोध का साहस नहीं प्रदर्शित किया था। उस समय भी रांगेय राघव रामविलास शर्मा पर वैसे ही हमला कर रहे थे जिस तरह पिछले कुछ वर्षों में रामविलास शर्मा न केवल नई कविता और उससे जुड़े लोहियावादियों पर बल्कि नेमिचंद्र जैन और मुक्तिबोध जैसे अपनी ही विचारधारा के लेखकों पर राजनीतिक कारणों से हमला करते हैं।<sup>9</sup> यह दुखद है कि झूठी विचारधारा के नाम पर लड़ी जाने वाली, कम्युनिस्ट लेखकों की इस अहंजन्य लड़ाई और दिशाहीन मानसिकता से उपजे सन्निपाती घात प्रतिघात की चपेट में अब रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, राजेंद्र यादव, ज्ञानरंजन भी आ चुके हैं।

साहित्य में जिस माफियातंत्र की चर्चा निर्मल वर्मा बरसों पहले करते हैं, उसी तर्ज पर प्रगतिशील लघु पत्रिका 'कल के लिए' के संपादकीय 'लेखनी में माफिया' के अनुसार 'आज हमारे बीच मतभेद से अधिक मनभेद हो गया है...आलोचना/ समीक्षा के नाम पर कोरी दलाली चल रही है।...गुंडों के गिरोह/ माफियाओं पर तो गैंगस्टर/ रासुका भी लग सकता है लेकिन इन साहित्यिक/ पत्रकार माफियाओं पर यह सब भी

नहीं लगाया जा सकता है। यह साहित्यिक गिरोहबंदी न सिर्फ प्रतिभाओं को कुंठित कर रही है, बल्कि उन्हें दिग्भ्रमित भी कर रही है।<sup>10</sup>

बरसों पहले हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस तरह की एकांगी अतिवादिता के दुष्परिणामों का अनुभव कर लिया था और उन्होंने समीक्षा में संतुलन का प्रश्न उठाया था। उनके अनुसार 'संतुलित दृष्टिकोण इन्हीं एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पाई जानेवाली सच्चाई पर समग्र दृष्टि है। वह किसी पक्ष की आवश्यकता से अधिक महत्व नहीं देती और किसी पक्ष की सच्चाई की उपेक्षा नहीं करती।'<sup>11</sup> इन्हीं अतिवादों से बचने के लिए अपनी जन पक्षधरता के बाद भी मलयालम के लेखक एम. मुकुंदन 'लेखकों को विचारधारा से बचने की सलाह देते हैं।'<sup>12</sup>

## 5

समय के संदर्भ में समाज, संस्कृति और साहित्य को समझने के लिए इतिहास-बोध आवश्यक है। व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र का इतिहास-बोध उनकी वर्चस्ववादी विचारधारा अथवा विश्वदृष्टि के साथ जुड़ा होता है। आज भारतीय समाज और संस्कृति को समझने की विश्वदृष्टि विखंडित होकर संप्रदायगत, दलगत और समुदायगत हितों में बदल चुकी हैं। इसने जिस मजहबी कट्टरता, जातिवादी विभाजन और दिशाहीन राजनीति को जन्म दिया है, उसका कुफल पूरा देश भोग रहा है। इन सवालों पर अलग से विचार करने की जरूरत है। प्राचीन भारतीय परंपरा और इतिहास के विश्लेषण में दो अतिवादी दृष्टियों से बचने की आवश्यकता है। कुछ लोग वैदिक परंपरा को ही एकमात्र भारतीय परंपरा मान लेते हैं। उनके अनुसार यह प्राचीन परंपरा भारत के स्वर्ण युग का प्रतिनिधित्व करती है। हिंदुत्व के आंदोलन के साथ इस विचार को नए सिरे से बल मिला है। इन विचारों के बोझ तले यह सत्य दब जाता है कि हिंदुओं के छः दर्शनों में भी बड़ी विभिन्नता है। भारतीय चिंतन ने विविधता, बहुलता, विमर्श को सर्वदा प्रोत्साहित किया। असहमति और प्रतिरोध का कभी गला नहीं दबाया। दूसरी ओर कम्युनिस्ट विचारों से प्रभावित लेखक जन भावना, लोक परंपरा की बिलकुल अनदेखी कर यह प्रचारित करने की चेष्टा करते हैं कि हिंदुओं ने बौद्ध/जैनियों के मंदिर तोड़े। वे यह भुला देते हैं कि कोटि कोटि हिंदुओं के लिए बुद्ध और महावीर जैसे ही 'भगवान' हैं जैसे राम और कृष्ण। संख्या की दृष्टि से असली अल्पसंख्यक यहूदियों और पारसियों को जहाँ अन्य जगहों पर प्रताड़ना मिली, उन्हें इस देश में अद्भुत सम्मान मिला। सदियों से यही भारतीय परंपरा रही हैं। कम्युनिस्ट संगठन 'सहमत' द्वारा अपनी प्रदर्शनियों में राम और सीता का जन भावना के विपरीत जिस तरह चित्रण किया गया, वह कुत्सित मानसिकता का परिचायक है।

जहाँ तक हिंदी के कम्युनिस्ट लेखकों का प्रश्न है, वे इतिहास-बोध और विश्वदृष्टि की बार बार चर्चा करते हैं। भारतीय समाज और चिंतन के बोध और दृष्टि

के लिए वे मार्क्सवादी होने का दावा करते हैं। लेनिन, माओ और हो ची मिन्ह को अपनी राष्ट्रीय परंपरा पर गर्व था। डी पी मुखर्जी जैसा मार्क्सवादी समाजशास्त्री और डी डी कौशांबी जैसा इतिहास लेखन को नई दिशा देने वाला मार्क्सवादी, भारतीय परंपरा के अध्ययन पर जोर देते हैं। लेकिन आजीवन कम्युनिस्ट आंदोलन से जुड़े रहनेवाले रामविलास शर्मा जब वेदों पर लिखते हैं तो वे हिंदुत्ववादी घोषित कर दिए जाते हैं।

अंग्रेजी सरकार और उसके द्वारा पोषित इतिहासकारों ने सन 1857 की जनक्रांति को सिपाहियों का गदर साबित करने की जी तोड़ कोशिश की है। विद्रोहियों द्वारा घोषित उद्देश्य के अनुसार यह आजादी का पयाम था। रामविलास शर्मा जैसा बहुपठित लेखक भी इसकी शतवार्षिकी के अवसर पर जब पुस्तक लिखता है तो इसे गदर कहता है। बहुत पहले सावरकर इसे स्वाधीनता का प्रथम युद्ध कह चुके थे। तब तक कम्युनिस्ट पार्टी की लाइन के अनुसार यह सामंती ताकतों द्वारा सत्ता में फिर से वापसी की साजिश का नतीजा था। इसके बाद 1857 के विषय में मार्क्स के लेखों का संग्रह प्रकाशित होता है। उसके बाद शर्मा जी भी अपनी गलती का परिमार्जन करते हैं और अपनी बाद की पुस्तकों में इसे क्रांति कहते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध में थके हारे रूसी सिपाही जब बर्फ से भरे खंदकों से भाग कर जार के खिलाफ विद्रोह कर देते हैं तो वह क्रांति कही जाती है। भारतीय सिपाही 1857 में जब विद्रोह का बिगुल बजाते हैं तो कम्युनिस्ट मानसिकता से प्रभावित लेखक इसे हाल तक गदर कहते हैं। अति बुद्धिमानी का परिचय देते हुए वे जनता की भागीदारी को क्रांति और मेरठ के सिपाहियों के विद्रोह को गदर कहते हैं।<sup>13</sup>

दूसरे विश्व युद्ध के पूरे काल में कम्युनिस्ट पार्टी और उसके समर्थक लेखकों की इतिहास दृष्टि कुहासे से भरी और आत्मघाती रही है। युद्ध के पहले ही विचारधारा को ताक पर रख कर स्टालिन ने हिटलर से समझौता किया था। रूस और जापान का समझौता पूरे युद्ध काल में बरकरार रहा था। फासिस्ट ताकतों के किए गए इन दोनो समझौतों के खिलाफ कम्युनिस्टों ने उंगली नहीं उठाई सुभाष बोस जब जर्मनी गए, जर्मनी का रूस से समझौता बरकरार था। वे जब जापान पहुंचे और आजाद हिंद सरकार के प्रधान हुए, रूस ने न तो जापान न तो कभी सुभाष बोस की सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। लेकिन भारत में बैठे, अंग्रेजों की टहलुआ बनी कम्युनिस्ट पार्टी, उसके संगठन प्रलेस और इप्ता ने अपनी ओर से बोस के विरुद्ध चुनिंदा राजनीतिक गालियों के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। वे 'भारत छोड़ो' आंदोलन की पीठ में छूरा भोंकते रहे। उस समय इस देश के हजारों बेगुनाह लोगों की हत्या, लाखों की यंत्रणा, हजारों की कैद, आगजनी, लूट, महिलाओं के सम्मान पर हमला प्रलेस और इप्ता के जन पक्षधरता के नायकों की इतिहास दृष्टि और लेखकीय संवेदनशीलता से ओझल रह गया।

अंत में यह कहा जा सकता है कि दलगत राजनीति, निजी हित, स्फीत अहम के साथ जुड़ा विचारधारा के ढोंग का छाता, अपनी राष्ट्रीय परंपरा को समझे बिना उसके प्रति विरक्ति अथवा आक्रोश का भाव, सम्यक विचारधारा अथवा समग्र इतिहास-बोध के स्थान पर समाज विरोधी और जन विरोधी बन जाता है। दुर्भाग्यवश हिंदी लेखन में यह प्रवृत्ति जोर पकड़ती जा रही है। इसका समाधान अन्याय के विरुद्ध सक्रिय पक्षधरता, जनहित से जुड़ी विचारधारा, सच्चाई के खोज से उत्प्रेरित वस्तुपरक ज्ञान, गहन आत्म-परीक्षण, संतुलित समीक्षा, असहमति के बाद भी पारस्परिक आदर और सुचिंतित इतिहास-बोध से ही संभव है।

### संदर्भ

1. त्रैमासिक 'कल के लिए' बहराइच, संयुक्तांक, अक्टूबर 2002-मार्च 2003, रामविलास शर्मा विशेषांक।
2. नित्यानंद तिवारी 'अकेलेपन से संन्यास की ओर' 'संकल्प-समीक्षा दशक' संपादिका, निर्मला जैन, हिंदी अकादमी, दिल्ली, 1992, पृ. 40।
3. 'निर्मल वर्मा' अज्ञेय: आधुनिक बोध की पीड़ा' वहीं, पृ.60-61।
4. विजय देव नारायण साही 'कवि के बोल खरग हिरवानी' वहीं, पृ. 230-231।
5. संक्षिप्त बोधगम्य विवरण के लिए देखिए इर्विंग एम. जेटलिन 'रीथिकिंग सोश्यालॉजी' रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 1987, पृ. 139-166।
6. आइडिऑलॉजी एंड यूटोपिया, लंदन, 1936, एस्सेज ऑन द सोश्यालॉजी ऑफ नॉलेज, लंदन, 1952, अथवा दोनो के बाद के संस्करण।
7. इंडियन ट्रेडिशन एंड सोशल चेंज', इन डाइवर्सिटीज, नई दिल्ली, 1958, पृ. 228-41।
8. डब्लू एच रसेल 'माइ इंडियन म्युटिनी डायरी' लंदन 1860, पुनर्संपादित संस्करण, लंदन, 1957, पी जे ओ टेलर 'ए स्टार शैल फाल: इंडिया 1857' नई दिल्ली 1993।
9. साक्षात्कार, कल के लिए: रामविलास शर्मा विशेषांक-3, अक्टूबर 02-मार्च 03, पृ. 18-19।
10. वहीं पृ. 4-5।
11. समीक्षा में पुस्तक वार्ता, अंक सात, सितंबर-अक्टूबर, 2002, पृ. 27-28।
12. वहीं पृ. 36-37।
13. विपनचंद्र, कमलेश त्रिपाठी, बरुण दे 'स्वतंत्रता संग्राम' नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, दसवीं आवृत्ति, 1994, पृ. 32-35।

## माक्सवादी अपराधों की अटूट शृंखला

शंकर शरण'

कम्युनिस्ट समझते हैं कि उनका सबसे बड़ा कर्तव्य, सबसे बड़ी सेवा - मनमुटाव पैदा करना, असंतोष को जन्म देना और हड़ताल कराना है। वे यह नहीं देखते कि यह असंतोष, ये हड़तालें, अंत में किसे हानि पहुँचाएंगी। अधूरा ज्ञान सबसे बड़ी बुराइयों में से एक है..... कुछ लोग ज्ञान और निर्देश रूस से प्राप्त करते हैं। हमारे कम्युनिस्ट इसी दयनीय हालत में जान पड़ते हैं। मैं इसे शर्मनाक न कहकर दयनीय कहता हूँ, क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि उन्हें दोष देने के बजाए उनपर तरस खाने की आवश्यकता है।..... ये लोग अब एकता को खंडित करने वाली उस आग को हवा दे रहे हैं जिसे अंग्रेज लगा गए थे।

(महात्मा गाँधी, 25 अक्टूबर 1947)

पश्चिम बंगाल के मुख्य मंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य ने अभी स्वीकार किया है कि "कम्युनिस्टों की संस्कृति संबंधी धारणाएं मूर्खतापूर्ण और एक-तरफा थीं"। इसी कारण उन्होंने कवि गुरु रवींद्रनाथ ठाकुर का ताउम्र गलत मूल्यांकन किया। बुद्धदेव जी का यह आत्म स्वीकार उनकी पार्टी के मुखपत्र गणशक्ति, पूजा विशेषांक को दिए एक विशेष साक्षात्कार में आया है। इससे पहले जनवरी में बुद्धदेव जी ने साठ साल पहले कम्युनिस्टों द्वारा नेताजी सुभाष चंद्र बोस के गलत मूल्यांकन तथा उन्हें दी गई गालियों के लिए माफी माँगी थी। जनवरी में ही एक ट्रेड यूनियन सभा में पूर्व मुख्यमंत्री ज्योति बसु ने लंबे समय से पश्चिम बंगाल में काम का वातावरण चौपट करने के लिए अपनी "गलती स्वीकार" की। माक्सवादियों द्वारा ऐसी आत्म-स्वीकृतियाँ और क्षमा याचनाएं सुनने को मिलती रहती हैं। किंतु उन्हें सुबुद्धि आ गई हो, इसका कोई संकेत नहीं। बिलकुल स्पष्ट हो चुकी पिछली गलतियों की माफी माँग कर वर्तमान में फिर उसी देश-समाज विरोधी ढर्रे पर चलते रहना - यही पिछले पचास साल से उनका व्यवहार रहा है। बहरहाल, बसु की स्वीकारोक्ति अधिक महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह माक्सवादियों के राजनीतिक सिद्धांत-व्यवहार की एक भयंकर भूल स्वीकार करता है। कामगार वर्गों को निरंतर असंतोष, हड़ताल, घेराव और जुझारूपन का पाठ पढ़ाना ही दुनिया भर के माक्सवादी हर हाल में अपनी सबसे अनोखी

\* डॉ. शंकर शरण जाने-माने स्तंभकार हैं।

विशेषता समझते थे। अब स्वयं ज्योति बसु के शब्दों में वह सब “गुंडागर्दी” का एक रूप था, जिसने पश्चिम बंगाल के औद्योगिक वातावरण का सत्यानाश कर दिया<sup>1</sup>। ज्योति बसु ने जो गलती मानी है उसके निहितार्थ बहुत दूर तक जाते हैं। वह केवल औद्योगिक वातावरण का सत्यानाश ही नहीं था। साठ साल की सक्रिय मार्क्सवादी राजनीति के बाद ज्योति बाबू की यह आत्म-स्वीकृति सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की मूल मार्क्सवादी धारणाओं को भी कठघरे में खड़ा कर देती है। वर्ग-संघर्ष या सामाजिक सद्भाव, क्रमिक विकास या क्रांतिकारी ध्वंस, राष्ट्रीय एकता या अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट मोर्चेबंदी, मार्क्सवादी बौद्धिकता या सामान्य बुद्धि जैसे अनेक बुनियादी द्वंदों पर इस ‘गलती स्वीकार’ की छाया पड़ती है। मसलन, बसु के बयान को मार्क्सवादी लेखक रूपी (प्रगतिशील या जनवादी लेखक संघ के) कामगारों पर लागू करें, तो बेहद दुःखद निष्कर्ष निकलेंगे। औद्योगिक वातावरण की तुलना में मार्क्सवादियों ने शिक्षा, साहित्य और संस्कृति का कहीं ज्यादा और गहरा नुकसान किया है।

प्रश्न यह है कि देश को दिए गए अधिक गंभीर घावों के लिए मार्क्सवादी कब क्षमा माँगेंगे? शुरू से ही भारतीय समाज और राजनीति को तहस-नहस करना ही उनका ध्येय रहा है। अपने झूठे देवताओं पर अंध-श्रद्धा के तहत उनका अडिग विश्वास था कि वर्तमान ‘पूँजीवादी’ समाज को टूटना तो है ही, हमारा काम उसकी गति को तेज करना मात्र है। अतएव ‘वर्ग संघर्ष’ को तेज करना, उसके बहाने ढूँढना, लोगों में असंतोष बढ़ाना, उन्हें विद्रोह और विध्वंस के लिए तैयार करना उनका परम सिद्धांत था। इसके विपरीत सामाजिक सहयोग, शांति का हर कदम उनकी नजरों में ‘वर्ग सहयोग’, बुर्जुआ सत्ता की उम्र बढ़ाना, और इसलिए अक्षम्य अपराध था। आज सोवियत विध्वंस के बाद सेक्यूलरिज्म को अपना एकमात्र सैद्धांतिक अवलंब बना, ‘हिंदू फासिज्म’ से लड़ने की मुद्रा ओढ़कर ‘केयरिंग एंड शेयरिंग’ की लफ्फाजी से नई पीढ़ी को इसका भ्रम हो सकता है कि ये शांति और सद्भाव चाहने वाले भले लोग हैं। मगर यह महज ऊपरी और हाल का नाटक है। मार्क्सवादी का मूल सिद्धांत (जिसे उन्होंने कभी खारिज नहीं किया) समाज में लड़ाई को बढ़ावा देना ही है। 1940-47 में जब उन्होंने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को सैद्धांतिक आधार देकर उसके पक्ष में सक्रिय आंदोलन किया तो अपनी तरफ से वे ‘राष्ट्रीयताओं की मुक्ति’ का वर्ग-संघर्ष ही चला रहे थे। इस तरह हिंदू राष्ट्रीयता और मुस्लिम राष्ट्रीयता के बीच लड़ाई, समाजवादी और पूँजीवादी देशों के बीच लड़ाई, उद्योगपति और मजदूर में लड़ाई, किसान और खेत-मजदूर की लड़ाई, छात्र और शिक्षा-प्रशासन की लड़ाई, हिंदी बनाम दक्षिण भारत की लड़ाई, आदि से लेकर अब पुरुष और स्त्री की लड़ाई, बड़ी पार्टियों और क्षेत्रीय पार्टियों की लड़ाई, राष्ट्रवादी-हिंदुत्व और इस्लामी कट्टरपंथी के बीच की लड़ाई को बढ़ाना या भड़काना ही मार्क्सवाद की केंद्रीय राजनीति रही है। पूरे इतिहास में कहीं किसी रचनात्मक कार्यक्रम का चिन्ह नहीं मिलता, क्योंकि उनका सिद्धांत ही

झगड़े और विद्वेष की वृद्धि पर आधारित था। हमेशा किसी प्रमुख संघर्ष-रत द्वैत को ढूँढकर, या गढ़कर, फिर उसमें किसी को ‘शोषित’ पक्ष घोषित करके उसके लिए घनघोर प्रचार चलाना यही मार्क्सवादियों का एकमात्र काम रहा है। चाहे सक्रिय राजनीति हो या वैचारिक लेखन या तथाकथित सांस्कृतिक क्रिया-कलाप, सबमें उनकी दिशा-निर्देशक यही प्रवृत्ति थी। ज्योति बाबू ने इसमें से सिर्फ एक गलती स्वीकार की है। वह भी केवल इसलिए कि पश्चिम बंगाल की सत्ता हाथ में रहने के कारण अपने ही विष बीज का फल खाना पड़ रहा है। वहाँ का आर्थिक विकास ठप और बाधित हो रहा है।

वस्तुतः अठहत्तर सालों के अपने इतिहास में भारतीय मार्क्सवादियों ने अनगिनत भयंकर गलतियाँ की हैं। नेताजी, गाँधी, पटेल जैसे राष्ट्रीय नेताओं को गाली देना तो छोटी मूर्खताएं थी। भारतीय मार्क्सवादी का सबसे बड़ा अपराध था - उत्साहपूर्वक भारत का विभाजन कराना। पाकिस्तान की माँग जरूर कुछ इस्लामियों ने की थी जिसे मुस्लिम लीग ने बाद में अपना लिया। मगर वे लोग इस्लामी अहंकार से अधिक कोई तर्क नहीं जानते थे। रहमत अली, मुहम्मद इकबाल (जिन्हें पाकिस्तान की माँग का प्रणेता माना जाता है) आदि की रचनाओं और भाषणों में कहीं कोई सिद्धांत नहीं मिलता। सिवा इस जिद के कि इस्लाम ही एकमात्र सच है, जिसे दुनिया के ऊपर साम्राज्य कायम करने का खुदाई अधिकार है। अतः राज तो मुसलमान ही करेंगे, अभी यदि पूरे हिंदुस्तान में नहीं तो फिलहाल जितना हिस्सा अलग करके कर सकते हैं। इसके अलावा पाकिस्तान के लिए कोई तर्क इस्लामी सिद्धांतकारों के पास नहीं था। वे खुद को उत्पीड़ित तो क्या, उल्टे मुगल उत्तराधिकारी के तौर पर सदियों से हिंदुस्तान का शासक समझते थे। उनका आक्रोश ही यही था कि जिन हिंदुओं को अंगूठे के नीचे दबाकर रखा, उनके साथ बराबरी कैसी!

स्वभाविक था कि लोकतंत्र और आधुनिकता के दौर में इस तर्क की कोई बौद्धिक, सुसंगत अपील नहीं हो सकती थी। यह हमारे परम-ज्ञानी मार्क्सवादी थे जिन्होंने ‘राष्ट्रीयताओं की मुक्ति’, ‘राष्ट्रीयताओं का आत्मनिर्णय’ के नाम पर मुस्लिम लीग को एक भारी-भरकम लगने वाला बौद्धिक आधार प्रदान किया<sup>2</sup>। बंबई में मई 1943 को हुई अपनी पार्टी कांग्रेस में कम्युनिस्टों ने विस्तार से यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि (1) भारत एक राष्ट्र नहीं, बल्कि राष्ट्रों का समूह है, जिसमें से कई तो बहुत उत्पीड़ित हैं। (2) मुसलमान अभी उत्पीड़ित राष्ट्र नहीं, मगर भविष्य में हो सकते हैं। अतः पाकिस्तान की माँग एक उचित और लोकतांत्रिक माँग है। (3) मुस्लिम लीग का नेतृत्व ‘ब्रिटिश साम्राज्यवाद का औजार’ और ‘सामंती-प्रतिक्रियावादी’ नहीं (जो कम्युनिस्ट अब तक कहते आए थे), बल्कि साम्राज्यवाद विरोधी औद्योगिक बुर्जुआ है। (4) मुस्लिम लीग प्रगतिशील है जो केवल मजहबी शब्दावली का सहारा लेती है किंतु वास्तव में मजहब-विरोधी है। इसके मुकाबले कांग्रेस नेतृत्व को ‘पतनशील’ और

‘साम्राज्यवाद से समझौता करने वाला’ बताया गया। तात्कालीन राष्ट्रीय नेताओं और इतिहासकारों के अनुसार हमारे भारतीय कम्युनिस्टों द्वारा पाकिस्तान की माँग के इस ‘सैद्धांतिकरण’ के बाद ही स्थिति गंभीर हुई। अभी तक पाकिस्तान की माँग को बड़े हल्के से लिया जाता था। मुस्लिम लीगी नेता भी इसे केवल कांग्रेस नेतृत्व पर दबाव का हथियार मानकर ही चल रहे थे। यह हमारे प्रगतिशील-सेक्यूलर-परम ज्ञानी मार्क्सवादी थे जिन्होंने अपने हिंदू-विरोध को परिणति पर पहुँचाते हुए पाकिस्तान के लिए एक बौद्धिक आधार प्रदान किया। कितनी बड़ी विडंबना है कि जिन मार्क्सवादियों ने इतनी बुद्धि लगाकर भारत का मजहबी आधार पर विभाजन कराया, वे पिछले कई देशकों से ‘धर्म-निरपेक्ष’ बने हुए हैं! और इस पाखंड को भुलाकर हमारे बुद्धिजीवी उन्हें सम्माननीय समझते हैं।

ध्यान देने की बात यह भी है कि उन्होंने भारत को एक राष्ट्र न मानने की घोषणा अपनी अक्ल से नहीं, बल्कि जोसेफ स्तालिन जैसे अर्द्ध-शिक्षित, दुनिया से लगभग अज्ञानी<sup>4</sup> नेता की चार पंक्तियों पर अंधविश्वास के कारण किया था। यहाँ तक कि जनवरी 1946 में कम्युनिस्ट पार्टी ने अंग्रेज शासकों से भारत के 2 नहीं, बल्कि 17 संप्रभु देशों में विभाजन की माँग की थी!! क्योंकि उस समय स्तालिन-भक्ति से सराबोर मार्क्सवादी विश्लेषण में भारत एक नहीं सत्रह राष्ट्रीयताओं का समूह पाया गया था। यही कुख्यात ‘अधिकारी थीसिस’ थी। इस प्रकार, प्रसिद्ध वामपंथी लेखक ख्वाजा अहमद अब्बास के शब्दों में, “भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भारत की हत्या कर दी। उसने मुस्लिम लीग की ऊल-जुलुल और देश-विरोधी माँग को वैचारिक आधार प्रदान कर दिया।” ऐसा नहीं कि बाद में मार्क्सवादियों ने अपनी भूल मानी हो। कम से कम 1987 तक मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव ई. एम. एस. नंबूद्रीपाद यह लिखते रहे कि “भारत एक बहुराष्ट्रीय देश बना हुआ है”। यानी इसके कई स्वतंत्र राष्ट्रों में टूटने, और मार्क्सवादियों की भविष्य-दर्शी विद्वता की पुष्टि की संभावना बनी हुई है! जाने-माने मार्क्सवादी लेखक और पश्चिम बंगाल के पूर्व मंत्री अशोक मित्रा कश्मीर को स्वतंत्र करने की वकालत अभी कर रहे हैं। यही नहीं, उनका लेखन यह दिखाता है मानो वे असम, नागालैंड, तमिलनाडु जैसे कई हिस्सों के अलग होने की राह ताक रहे हैं<sup>5</sup>। अस्तु, सवाल यह है कि भारत की हत्या करने के अपराध की क्षमा हमारे मार्क्सवादी कब माँगेगे? उससे भी गंभीर प्रश्न यह कि वे हर हाल में हिंदू-विरोध और इस्लाम-परस्ती की मनोवृत्ति को कब छोड़ेंगे? शायद अभी नहीं। हालाँकि अंतरात्मा रखने वाले मार्क्सवादी अपनी भूलें स्वीकार करते रहे हैं। एक जमाने के बड़े कम्युनिस्ट नेता, चीन और रूस के कम्युनिज्म को बेहद नजदीक से और लंबे समय तक देखनेवाले सिद्धांतकार मोहित सेन की सद्यः प्रकाशित आत्मकथा *ए ट्रैवलर एंड द रोड - द जरनी ऑफ एन इंडियन कम्युनिस्ट* (2003) इसका एक दिलचस्प नमूना है। उसे पढ़कर एक बार सोचना पड़ता है कि क्या कभी कम्युनिस्टों ने देश और समाज के हित

में कोई काम किया भी है? यहाँ बात उनकी गरीबों की भलाई की भावना, या वैयक्तिक ईमानदारी आदि की नहीं है। क्योंकि खुद कम्युनिस्ट आत्मगत भावनाओंको दो कौड़ी का नहीं समझते थे। उनके लिए महत्व इस बात का रहता था कि नेताओं, लेखकों या कार्यकर्ताओं के विचारों और क्रियाकलापों का ‘वस्तुगत रूप से’ क्या परिणाम होता है। इसीलिए चाहे महात्मा गाँधी गरीबों की प्रत्यक्ष सेवा करते थे, स्वयं सादगी से रहते थे, या धन-पद के फेर में कभी नहीं पड़े - किंतु इन सबसे उनका मार्क्सवादी मूल्यांकन कोई नरम नहीं हो जाता था। गाँधीजी ‘वस्तुगत रूप से’ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दलाल कहे ही गए। तब उसी तर्क पर भूपेश गुप्त जैसे कम्युनिस्ट नेताओं और रामविलास शर्मा जैसे संतस्वरूप लेखकों की वैयक्तिक सादगी और ईमानदारी का क्या महत्व रह जाता है? इन गुणों के बावजूद उनके कारनामों से समाज और देश का भारी नुकसान होता ही रहा।

सच तो यह है कि देश मार्क्सवादियों की गिनती में ही पीछे आता था। दुनिया भर में संघर्ष को तेज करने के नाम पर सामाजिक अशांति को बढ़ावा देना ही नहीं, बल्कि देशभक्ति का सैद्धांतिक विरोध भी मार्क्सवादियों का एक मौलिक सिद्धांत था। इसकी प्रेरणा थी कार्ल मार्क्स की वह प्रसिद्ध उक्ति कि “मजदूरोंका कोई देश नहीं होता”। इसके प्रभाव में भारतीय मार्क्सवादियों ने कई बार देश-द्रोह किया और आज भी कर रहे हैं। अपने देश के बदले विदेशी कम्युनिस्ट पार्टियों और उनकी आसन्न आवश्यकताओं को पूरा करके। इसीलिए सन् 1942 में उन्होंने ‘अंग्रेजो भारत-छोड़ो’ आंदोलन में राष्ट्रीय नेताओं के विरुद्ध अंग्रेज शासकों का साथ दिया था। वह भी इस तरह कि कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस आंदोलनकारियों की खबर अंग्रेजों को देकर बदले में ईनाम और प्रचार की सुविधाएं माँगती थी। यह सब द्वितीय विश्व-युद्ध में सोवियत संघ को मदद पहुँचाने के नाम पर किया गया, जो कम्युनिस्टों के अपने ही शब्दों में उनकी ‘एकमात्र पितृ-भूमि’ थी!

यही चरित्र 1962 में भारत पर चीनी आक्रमण के समय दिखा। यद्यपि भारतीय कम्युनिस्टों में इस पर मतभेद था। बाद में पार्टी टूट भी गई। लेकिन टूटकर मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी बनाने वालों ने कम्युनिस्ट चीन को नहीं बल्कि ‘नेहरू की सरकार’ को हमलावर कहा था। यहाँ तक कि उससे पहले भी भारत के कुछ सीमावर्ती क्षेत्रों को चीन का बताते हुए प्रचार भी किया गया था। 1960 में अगस्त के अंतिम अंक में ब्लिट्ज साप्ताहिक, जो घोषित रूप से कम्युनिस्ट समर्थक अखबार ही था, ने यह रिपोर्ट छपी थी:

ऊपरी गढ़वाल में दो गाँव हैं, चान्ची और थान्ची। कम्युनिस्ट पूरे इलाके को यह बताते घूमे कि यह क्षेत्र चीन का है क्योंकि गाँवों के नाम चीनी लगते हैं। उत्तर प्रदेश के अन्य पर्वतीय जिलों में स्थानीय कम्युनिस्ट भारत सरकार पर चीनी हमले



का हौवा खड़ा करने का आरोप भी लगा रहे हैं ताकि अन्य जरूरी समस्याओं, जैसे बेरोजगारी और बढ़ती कीमतों आदि से जनता का ध्यान हटाया जा सके।<sup>6</sup>

यहाँ तक कि जब चीन ने प्रत्यक्ष आक्रमण भी कर दिया तब भी हमारे मार्क्सवादियों का अंधा तर्क था कि एक साम्यवादी देश तो आक्रमणकारी हो ही नहीं सकता। अतएव जरूर बुर्जुआ नेहरू ने कुछ बदमाशी की है जिससे बात बिगड़ी। हमारे मार्क्सवादियों को अपने देश की सरकार की बजाए वैचारिक बंधु, और मार्गदर्शक चीन सरकार की बात विश्वसनीय लगती थी। हालाँकि जब 1978 में उसी चीन ने वियतनाम पर हमला किया, तो इन्हीं मार्क्सवादियों ने चीन को हमलावर माना। किंतु 1962 के लिए ये आज भी चुप्पी साध लेते हैं। बल्कि चीन के समक्ष भारत सदैव उनके लिए दायम महत्व का रहा है। यही स्थिति आज भी है। अभी हाल में जब प्रधानमंत्री वाजपेयी की चीन यात्रा के दौरान (जून 2003) एक बार फिर चीनी विश्वासघात की खबर (भारतीय सीमाओं में घुसपैठ) आई, तो पुनः भारतीय मार्क्सवादियों ने मौन रखा। वे कारगिल जैसे संकट में काम आनेवाले इजराइल जैसे मित्र-देश की उग्र निंदा करते हैं। वह भी गलत निंदा, यानी महज इस्लाम-परस्ती दिखाने के लिए। किंतु भारत पर प्रत्यक्ष आक्रमण करने, करवाने वाले चीन की कभी नहीं<sup>7</sup>। कितनी विचित्र बात है कि यहाँ ऐसे अंध-विश्वासियों, और देश-हित के प्रति अपराधिक उदासीनता बरतने वालों को विशिष्ट बुद्धिजीवियों<sup>8</sup> के रूप में प्रतिष्ठा मिलती रही है! अतः प्रश्न है अपने देश की बजाय साम्यवादी देशों और सरकारों के प्रति वफादारी रखने की माफी कब माँगी जाएगी?

इसी से हमारे मार्क्सवादियों द्वारा कम्युनिष्ट देशों से नियमित, और गोपनीय आर्थिक सहायता लेते रहने का गंभीर सवाल जुड़ा है। सोवियत विघटन के बाद वहाँ के अभिलेखागारों से पता चला कि सोवियत सरकार दुनिया भर की कम्युनिस्ट पार्टियों को और उनके सहयोगी संगठनों, संस्थाओं को सालाना करोड़ों डॉलर दिया करती थी। इसमें भारतीय कम्युनिस्ट और उनके शांति-मैत्री-प्रगतिशीलता वाले बौद्धिक संगठन भी थे। इसका पार्टीवार पूरा विवरण अब रूसी विदेशी मंत्रालय के प्रकाशित दस्तावेजों में उपलब्ध है। भारतीय प्रेस में भी इसके कुछ विवरण छपे। उदाहरण के लिए, वरिष्ठ पत्रकार एम.के. टिक्कू ने सोवियत अभिलेखागारों के दस्तावेज पढ़कर बताया कि 1951 में मॉस्को से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को 1 लाख डॉलर की नगद राशि इन्हें वहाँ से नियमित मिलती रही<sup>9</sup>। सोवियत विघटन के बाद दुनिया भर के अखबारों में ब्योरेवार विवरण छपे कि दुनिया के अमुक-अमुक देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को इतनी-इतनी रकम मिली। हमारे कम्युनिस्टों ने कभी इसका खंडन करने का साहस नहीं किया। जब भारतीय संसद में कम्युनिस्ट पार्टियों के इस अवैध वित्तीय कारोबार की जाँच की माँग उठी तो कम्युनिस्टों ने जाँच का विरोध यह कहकर किया कि 'सब पार्टियों की जाँच हो, तब हमारी भी।' इसमें स्पष्टः अपराध की स्वीकृति थी। क्योंकि

यह तर्क बिलकुल वैसा ही था, जैसे कोई अपराधी कहे कि पहले सब अपराधियों को सजा हो जाए तभी उसे हो - चाहे पकड़ा केवल वही गया हो। कामरेडों के पास बचाव के लिए कुछ न था।

ऐसी ऐतिहासिक जानकारियों का कुछ हिस्सा भारतीय अकादमिक संस्थाओं के पास भी आया था। पर उनके बारे में लोगों को जानकारी नहीं मिल पाई। इसे विद्वत् संस्थानों, अकादमियों और विश्वविद्यालयों पर मार्क्सवादी कब्जे की कुटिल राजनीति से ही समझा जा सकता है। 1995 में कलकत्ता की एसियाटिक सोसाइटी ने मॉस्को के राजकीय अभिलेखागार के साथ एक समझौता किया था। इसके तहत दोनों अपने-अपने देश के अभिलेखों का आदान-प्रदान कर रहे थे। भारतीय कम्युनिस्टों संबंधी कई दस्तावेज भी एसियाटिक सोसाइटी को मिले थे। किंतु 1999 में एसियाटिक सोसाइटी पर मार्क्सवादियों ने कब्जा कर लिया और रूसी अभिलेखों के प्रकाशन की योजना को रद्द करवाया! इस उदाहरण से भी समझा जा सकता है कि अकादमियों और विश्वविद्यालयों पर एकछत्र कब्जे से हटाए जाने पर मार्क्सवादी बुद्धिजीवी विक्षिप्त से क्यों हो रहे हैं। यह भी, कि सच्चाई जानने और शिक्षा एवं वास्तविक विद्वत्-कार्य के विकास के लिए उन्हें ऐसे स्थानों से हटाना नितांत आवश्यक क्यों है। यह बहुत बड़ा फरेब है कि अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीति, दर्शन या मनोविज्ञान जैसे विषयों में मार्क्सवादी विद्वानों ने मार्क्सवाद का एक 'विश्लेषण पद्धति' मात्र के रूप में प्रयोग किया था। पहली बात, कि मार्क्सवाद में ऐसी कोई संभावना ही नहीं। मार्क्सवादी विचारदर्शन में सभी क्रिया-कलाप राजनीति के अधीन और उसके औजार हैं। यह कार्ल मार्क्स की मौलिक प्रस्थापना है कि "सवाल दुनिया की व्याख्या का नहीं, बल्कि उसको बदलने का है"। इसे हमारे मार्क्सवादी (जैसे जेएनयू के) प्रोफेसरों ने अपनी कितनी ही किताबों, व्याख्यानों में खुलकर कहा भी<sup>10</sup>। आज उनके द्वारा मार्क्सवाद को 'व्याख्या-विश्लेषण की पद्धति' कहना बदले समय में अपना चोला बदलने, और पुराने पापों से छुटकारा पाने का प्रयास भर ही है।

वस्तुतः मार्क्सवाद का असली आकर्षण ही उस विराट परिवर्तनकारी परियोजना में था, जिसके अनुसार इसने पूरी दुनिया को सदा के लिए बदल देने की कुंजी खोज ली है। यही कारण है कि इसके प्रति आकृष्ट हो जाने के बाद इसकी सिफत ही ऐसी है कि व्यक्ति किसी न किसी रूप में राजनीतिक सक्रियता से जुड़ता ही है, चाहे वह विश्वविद्यालय का प्रोफेसर हो या किसी कस्बे का गुमनाम सा लेखक। मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन से लेकर माओ और नंबूद्रीपाद तक साफ-साफ घोषित कर चुके हैं कि अकादमिक मार्क्सवाद कोई चीज नहीं होती, हो ही नहीं सकती। मार्क्सवाद को सक्रिय राजनीति, क्रांति की तैयारी, इसके हिरावल कम्युनिस्ट पार्टी को सहयोग, उसके वास्तविक या चिन्हित विरोधियों को सचेत रूप से नुकसान पहुँचाने और इस प्रकार 'क्रांति को नजदीक लाने' के काम से कभी अलग किया ही नहीं जा सकता। यही

नहीं, अकादमिक पदों पर जमे हमारे प्रोफेसर मार्क्सवादियों ने चुनाव लड़ने, लड़ाने, कम्युनिस्ट पार्टियों के साथ निकट सहयोग करने, अपने छात्रों को उसके लिए प्रेरित करने, स्वयं राजनीतिक मुद्दों पर सक्रिय अभियान चलाने आदि काम खुले आम किए हैं। अपने लेखन, भाषण और कक्षाओं में भी वे इससे बहुत स्वतंत्र कुछ नहीं करते हैं। अतः आज यह कहना कि वे मार्क्सवाद का उपयोग एक 'विश्लेषण-पद्धति मात्र' के रूप में करते हैं, लोगों की आँखों में धूल झोंकने की कोशिश करना है।

बहरहाल, सोवियत संघ ही नहीं, चीन से भी भारतीय मार्क्सवादियों को आर्थिक, भौतिक सहायता मिलती रही है। कई रूपों में वह आज भी जारी है<sup>11</sup> इसमें केवल कम्युनिस्ट पार्टियाँ ही नहीं, उनसे स्वतंत्र रहने वाले मार्क्सवादी बुद्धिजीवी, पत्रकार और प्रोफेसरान भी थे। उन्हें मिलने वाली सहायता कम्युनिस्ट देशों की अकादमियों में स्थान, तरह-तरह के पुरस्कार, छुट्टियाँ बिताने के लिए विदेश यात्राएं, प्रकाशनों, रॉयल्टियों आदि रूपों में थी। कम्युनिस्ट देशों की कार्य-शैली की मामूली समझ रखने वाला भी जानता है कि मार्क्सवादी और प्रगतिशील संस्थाओं की मदद करने का उद्देश्य कतई शैक्षिक नहीं, बल्कि राजनीतिक रहा है। क्योंकि कम्युनिस्ट देशों में घोषित तौर पर कोई स्वतंत्र शैक्षिक, बौद्धिक संस्थाएं नहीं थी। जो थीं, राजकीय और पूरे सरकारी नियंत्रण में चलने वाली। इसलिए उन देशों के राजनीतिक-कूटनीतिक हितों से इन सहायताओं का अभिन्न संबंध था। इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारी कम्युनिस्ट पार्टियों और मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों को मिले भाँति-भाँति के उपहार रूसी-चीनी कम्युनिस्ट पार्टियों की राजनीतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए ही थे।

एक जमाने में अंग्रेजी साप्ताहिक लिंक और दैनिक पैट्रियट का रूख सदैव सोवियत पक्ष-मंडन रहता था। यह संयोग नहीं है कि सोवियत संघ के विघटन के साथ ही ऐसे कई प्रेस और प्रकाशन संस्थान बंद हो गए। कई 'प्रगतिशील' बौद्धिक संगठनों की गतिविधियाँ यकायक क्षीण हो गई। उनके दफ्तरों पर ताला पड़ गया। बाद में उनके भवन बेच लिए गए। अन्य अचल संपत्तियों का भी चुपचाप वारा-न्यारा हो गया। उसी तरह यह अकारण नहीं कि अभी भारत का एक जाना-माना अंग्रेजी पाक्षिक भारतीय नहीं, बल्कि चीनी मुखपत्र लगता है। उसके संपादक कम्युनिस्ट कट्टर हिंदू-विरोधी हैं। उसमें भारत-चीन संबंधी हर मुद्दे पर तो निरपवाद रूप से चीन का जोरदार समर्थन रहता है। इसके अलावा हर दूसरे, तीसरे अंक में किसी न किसी बहाने चीन की इस या उस चीज की विरुदावली रहती है। सबसे दिलचस्प बात यह कि जिन प्रश्नों पर यह पत्रिका भारत सरकार या यहाँ की किन्हीं राज्य सरकारों की कटुतम आलोचन करती है, उन्हीं प्रश्नों पर चीन सरकार के उससे भी कड़े रूख का कभी जिक्क तक नहीं करती! बल्कि उससे संबंधित बड़े-बड़े समाचार तक छिपा लिए जाते हैं। जैसे - चीन में वेटिकन से संबंध रखने के आरोप में पादरियों की नियमित गिरफ्तारी, अवैध चर्चों को ढहा दिया जाना, ईसाई मिशनरियों पर प्रतिबंध, केवल

देशभक्त चर्च को अनुमति, पोप की कटु आलोचना, आदि की खबरें भी इस पहली पंक्ति के पाक्षिक में कभी नहीं आती। जबकि इसी विषय पर तमिलनाडु या गुजरात सरकार के साधारण कानून बनाने पर यह आग-बबूल हो उठता है! इसे देश-द्रोह कहें या मार्क्स-लेनिन-माओवाद की लाइलाज बीमारी? भारत के लिए इस पत्रिका की विषैली टिप्पणियों का अंत नहीं रहता। यह अंग्रेजी पाक्षिक कोई अकेला नहीं। कई हिंदी साहित्यिक-सैद्धांतिक पत्रिकाओं को इस बात पर क्रोध था कि निर्वासित चीनी लेखक गाओं जिंजियान को नोबल पुरस्कार देकर बीजिंग को परेशान क्यों किया गया। ऐसी अनेक साहित्यिक लगने वाली पत्रिकाएं और लेखक-पत्रकार हैं जो सत्तर साल पहले के मार्क्सवादी अंधविश्वास में जी रहे हैं। वे हर विषय को गड्ड-मड्ड करने, तुच्छ गाली-गलौल और निरर्थक चीख-पुकार के अलावा कोई काम नहीं करते। उदारीकरण, बाजारीकरण, विदेशी निवेश, ईराक युद्ध, इस्लामी आतंकवाद जैसे कई मामलों में चीन सरकार के कदम भारत सरकार के उठाए कदमों से कई गुना स्पष्ट और कठोर हैं। मगर हमारा वह प्रगतिशील, सेक्यूलर अंग्रेजी पत्र-समूह चीन के लिए हर हाल में बिछा रहता है। कोई आश्चर्य की बात नहीं, यदि चीन में कम्युनिस्ट राज खत्म हो जाने पर यह प्रकाशन-समूह भी बंद या उदास हो जाए।

इस पूरे मामले के नैतिक पहलू तो है ही। आखिर ऐसी सोवियत या चीनी टुकड़खोरी से कौन सा बौद्धिक या सामाजिक योगदान हो सकता था! ध्यान देने योग्य सवाल यह है कि उन लाखों डॉलरों जिसके प्रमाणिक दस्तावेज उपलब्ध हैं का हिसाब कम्युनिस्ट नेताओं और उनकी बुद्धिजीवी संस्थाओं ने किसको दिया, जो उन्हें नगद (अन्य रूपों में मिलने वाली चीजें यदि छोड़ भी दें) मिलते रहे थे? किसी को नहीं - न भारत सरकार को, न अपने पार्टी सदस्यों को। कम्युनिस्ट पार्टियों की सर्वोच्च संस्था उनकी पार्टी कांग्रेस बताई जाती है। उसे भी कभी कोई हिसाब नहीं गया। इस प्रकार हमारे मार्क्सवादी नेता न केवल देश के कानून से खेलते रहे, बल्कि अपने भोले सदस्यों और समर्थकों के विश्वास से भी। कोई अनजाने नहीं, पूरी तरह जान-बूझकर। इसके लिए वे कब माफी माँगेंगे? इस गंभीर पहलू को नहीं भूलना चाहिए कि सोवियत या चीनी सरकारों द्वारा यह सहायता कतई मुफ्त नहीं होती थी। नगद के साथ नैतिकता तो सदैव जुड़ती ही है। जाने-अनजाने दाता सरकारों को उसका प्रतिदान अपने देश के हितों को नुकसान पहुँचाकर दिया जाता रहा है। इस अपराध का लेखा होना अभी शेष है।

देश की अंदरूनी राजनीति में भी मार्क्सवादियों ने एक से एक घातक कारनामे किए हैं। फरवरी 1948 में 'देश की आजादी झूठी है' बताकर इन्होंने सशस्त्र संघर्ष द्वारा भारत का तख्ता-पलट करने का बिगुल बजाया था। इसमें जो असंख्य निरीह कम्युनिस्ट कार्यकर्ता, उनके समर्थक या सरकारी सिपाही मारे गए, उसके लिए हमारे मार्क्सवादी कब क्षमा माँगेंगे? फिर सामाजिक विकास और खुशहाली के सर्वश्रेष्ठ

मॉडल के रूप में कम्युनिस्ट देशों का मिथ्या प्रचार भी हमारे मार्क्सवादियों की भारी गलती थी। चाहे वह गरीबी मिटाने का मामला हो या सामाजिक समस्याओं का निदान, हमेशा सोवियत संघ या चीन के जाली आंकड़ों या नकली तस्वीरों से भारत के बुद्धिजीवियों, आम जनता, यहाँ तक कि सरकार तक को दिग्भ्रमित किया जाता रहा। इस नुकसान का हिसाब होना अभी शेष है। कम्युनिस्ट देशों और उनका ढोल बजाने वालों के झूठे प्रचार ने ही श्रीमती इंदिरा गाँधी को उद्योगों, सेवाओं के पुँआधार राष्ट्रीयकरण के लिए प्रेरित किया था। मानो वह सामाजिक-आर्थिक विकासका रामबाण हो। उन नीतियों के कारण भारत का आर्थिक-वैज्ञानिक-तकनीकी विकास कितना पिछड़ा, यह विनिवेश की नीति से और स्वयं चीन, रूस में अर्थव्यवस्था को ठीक उल्टे घुमाने की विवशता से देखा जा सकता है। जैसा निर्मल वर्मा ने कहीं कहा है, समाजवादी देशों के कटु यथार्थ को जानते हुए छिपाकर, उन्हें गुलाबी रूप में पेश करने का सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि सामाजिक उन्नति के वैकल्पित विचारों को सीधे कूड़ेदान में फेंक दिया गया। महात्मा गाँधी की रचनात्मकता और बेजोड़ कार्य-शैली के साथ यही किया गया। इस प्रकार देश के असंख्य प्रतिभावान युवाओं को बौद्धिक अफीम खिलाने का दोषी कौन है?

जब 1985 में राजीव गाँधी ने कम्यूटर ज्ञान और विकास पर जोर दिया तो मार्क्सवादियों ने जोर-शोर से उसका विरोध किया। यह कहते कि 'कम्यूटर जन-विरोधी टेकनॉलॉजी है, जो लोगों का रोजगार छीन लेगी'। अब पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार अपने यहाँ कार्य-संस्कृति विकसित करने के लिए अमेरिकी माइक्रोसॉफ्ट कंपनी की सेवाएं ले रही है! विज्ञान, टेकनॉलॉजी और अर्थव्यवस्था के अंतर्संबंध के बारे में मार्क्सवादियों की समझ ऐसी है कि वे कभी चार साल आगे भी नहीं देख पाते। अर्थात्, उस विषय की (उत्पादन व्यवस्था, उत्पादन संबंध और अर्थशास्त्र) जिसके वे स्वघोषित रूप से पंडित रहे हैं। कंप्यूटर पर उनका यह रूख तो हाल का उदाहरण है। वस्तुतः हरित क्रांति, दुग्ध क्रांति आदि हर परियोजना एवं कृषि संबंध, जमीन का बँटवारा, औद्योगिक संबंध, साहित्य, कला आदि हरेक विषय में उन्होंने जैसी नीतियों की हिमायत व प्रचार किया - उससे देश और आम जनता का भी गंभीर नुकसान हुआ है।

यदि मार्क्सवादी घोषणाओं, दावों और आंदोलनों का पिछले पचास सालों का क्रमबद्ध रिकॉर्ड सामने रखा जाए, फिर उसके तात्कालिक और आगामी, वास्तविक परिणामों का आकलन किया जाए तब जाकर पता चलेगा कि उन्होंने अर्थव्यवस्था, सामाजिक सौहार्द, शिक्षा, संस्कृति आदि हरेक क्षेत्र में देश और समाज का कितना भयानक नुकसान किया है। यह समझना बड़ी भूल है कि हमारे मार्क्सवादियों के विघटनकारी, प्रतिगामी विचारों से सिर्फ बंगाल पिछड़ा। इस देश में आम अशिक्षा, अंग्रेजी दबदबे और बुद्धिजीवियों की अधकचरी स्थिति को देखते हुए मार्क्सवादी

विचारों, प्रचारों ने चौतरफा नुकसान किया है। शिक्षा और संस्कृति का हर क्षेत्र मार्क्सवादी राजनीति की धूर्त चालों की गिरफ्त में आकर विकृत हो गया। इतिहास लेखन में उनके कारनामों से अब जाकर लोग थोड़े परिचित हुए हैं। मगर साहित्य, संस्कृति, कला आदि क्षेत्रों में मार्क्सवाद के विषैले प्रभाव को तो अभी महसूस भी नहीं किया गया है। हिंदी के अधिकांश लेखक और लघु-पत्रिकाएं इसका जीवंत प्रमाण हैं।

साहित्य, कला आदि के मुकाबले राजनीतिक परिदृश्य में मार्क्सवादी प्रभाव का नुकसान अधिक सरलता से दिखता है। केंद्र की सरकार कमजोर और विखंडित रहे, यह खुली मार्क्सवादी रणनीति है। इसके लिए भाजपा के सहयोग से कांग्रेस को, और कांग्रेस के सहयोग से भाजपा सरकारों को गिराने, अस्थिर करनेके प्रयास निरंतर होते रहते हैं। चाहे इससे अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति या अंदरूनी विकास कार्यक्रमों में देश का कितना ही नुकसान क्यों न हो। गंभीर राजनीतिक मुद्दों पर भी मार्क्सवादी नीति विखंडनकारी रही है। 1990-91 में जब प्रधानमंत्री चंद्रशेखर ने अयोध्या विवाद को सुलझाने का पक्का निश्चय किया, तो एक बार लगा था कि हिंदु-मुस्लिम प्रतिनिधि किसी आपसी समाधान पर पहुँच जाएंगे। कम लोगों ने ध्यान दिया है कि उस समय मुस्लिम नेताओं को ऐसे हल से विमुख करने में सामने और पर्दे के पीछे से मार्क्सवादियों ने केंद्रीय भूमिका निभाई थी! बाबरी मस्जिद एक्शन कमिटी और वक्फ बोर्ड के औपचारिक पैरोकार जाने-माने मार्क्सवादी इतिहासकार ही थे। जैसे पचास साल पहले मुस्लिम लीग को देश के विभाजन का 'वजनी' तर्क मार्क्सवादियों ने दिया था, उसी तरह एक बार फिर अयोध्या विवाद मामले में मुस्लिम प्रतिनिधियों को समझौते से विमुख करने में इन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस बार उनका तर्क था कि अयोध्या मुद्दे पर दोनो पक्षों द्वारा कुछ ले-देकर समझौते से हिंदुत्व मजबूत होगा और सेक्यूलरिज्म कमजोर। 1990-91 में अयोध्या विवाद पर मुस्लिम पक्ष के मुख्य पैरोकार और गवाह मार्क्सवादी इतिहासकार थे जिन्होंने उन्हें कड़ा रुख बनाए रखने के लिए प्रेरित किया था। आज भी वे यही कर रहे हैं। उससे जो नुकसान हुआ, उसके लिए वे मार्क्सवादी इतिहासकार कब माफी माँगेंगे?

वस्तुतः छप्पन साल पहले भारतीय कम्युनिस्टों के बारे में गाँधीजी की कही गई एक-एक बात आने वाले वर्षों, दशकों में उसी तरह लागू होती रही है। यह एक तरफ विचित्र लगता है, दूसरी तरफ आश्चर्यजनक। विचित्र इसलिए कि अच्छे-भले, पढ़-लिखे लोग भी कितने मूढ़ हो सकते हैं। जो बात आम आदमी समझ सकता है, कि झगड़े फैलाने से, भविष्य की काल्पनिक बातों के नाम पर वर्तमान के विध्वंस से समाज में किसी का भला नहीं होता। मगर यह बात ज्योति बसु जैसे विलायत में पढ़े, पूरी दुनिया घूमे नेता को 80 वर्ष की आयु में, वह भी आधे-अधूरे समझ में आयी! आश्चर्यजनक इसलिए कि निरंतर छः-सात दशकों से ऐसी खुली विघटनकारी नीति के बावजूद मार्क्सवादियों के प्रति हमारे बुद्धिजीवियों में इतनी श्रद्धा कैसे बनी रही?

‘जनता’ की रट लगाने वाले जिन मार्क्सवादियों को स्वयं आम हिंदी जनता ने कभी महत्व नहीं दिया, उन्हें हिंदी लेखकों ने इतना आदरणीय कैसे मान लिया? यहाँ तक कि समाजवादी देशों के अर-अराकर गिर जाने के बाद भी किसी ने मार्क्सवादियों से उस झूठ का हिसाब नहीं माँगा, जो वे उन देशों के बारे में दशकों से फैलाते रहे थे। यह एक ऐसा सवाल है जिसपर अलग से विचार किया जाना जरूरी है।

## संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. द टेलीग्राफ, कोलकाता, 6 जनवरी 2003
2. वास्तव में व्यक्ति के रूप में अधिकांश मार्क्सवादी सचमुच भले लोग थे। वस्तुतः लोगों के बीच उनका जो प्रभाव बना, इसमें उनके सिद्धांत और राजनीतिक क्रिया-कलाप के परिणाम की बजाए उनकी भली, ईमानदार, कर्मठ छवि का हमेशा ज्यादा योगदान रहा। इसमें दोहरी विडंबना है। एक तो यह कि देश के लिए सबसे घातक निर्णय गंगाधर अधिकारी, भूपेश गुप्त जैसे अनेक सज्जन नेताओं के द्वारा लिए गए थे। समाज और संस्कृति के लिए सबसे ऊल-जुलूल और नुकसानदेह प्रस्थापनाएं राहुल सांकृत्यायन या डॉ० रामविलास शर्मा जैसे निःस्वार्थ लेखकों ने दीं। दूसरी विडंबना खुद मार्क्सवाद की। इसके अनुसार उत्पादन-संबंध, अर्थव्यवस्था की गति और वर्ग संघर्ष द्वारा मार्क्सवादी आंदोलन को स्वतः विकसित होना था, इसमें व्यक्ति की नगण्य भूमिका थी। कार्ल मार्क्स के शब्दों में ‘बिजली कड़कने’ या भूकंप आने में मनुष्य की जो भूमिका है, उतनी ही क्रांतिकारी सर्वहारा आंदोलन विकसित होने में भी है। जबकी हुआ उल्टा। वास्तव में यह उच्च आदर्शों से प्रेरित भले लोगों की छवि थी, जिससे मार्क्सवादी गतिविधियों को उतना भी समर्थन मिला। कहने की जरूरत नहीं कि कार्यान्वयन शर्मा, जगन्नाथ सरकार, सत्यपाल डांग या मोहित सेन की बजाए यदि कम्युनिस्ट नेता रोमेश शर्मा या बंगारू लक्ष्मण सरीखे होते तो मार्क्सवादियों को समर्थन की उस जमीन का दसांश भी नहीं मिला होता, जो भारत में उन्हें मिली। विचार करें तो जीवन की यह सच्चाई मार्क्सवाद-लेनिनवाद के व्यक्ति और समाज विषयक सिद्धांत को पूर्णतः खारिज करती है।
3. गंगाधर अधिकारी - सं. पाकिस्तान एंड नेशनल यूनिटी (बंबई: 1944, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस)
4. जोसेफ स्तालिन (1879-1953) को रूसी छोड़कर कोई भाषा नहीं आती थी। न वे कभी विदेश गए। एक गरीब मोची के बेटे थे, और रूस की राजधानी से सैकड़ों मील दूर देहात में एक धार्मिक स्कूल में पढ़े थे। उसकी पढ़ाई भी पूरी नहीं की। पंद्रह साल की उम्र से ही राजनीति में आ चुके थे। फिर रूसी संसद और जारशाही में छिपकर षड्यंत्रकारी कामों में लगे रहनाइस पृष्ठभूमि में विचार करें कि उन्हें दुनिया की क्या, कितनी जानकारी और कहाँ से मिली होगी! वह भी तब जब रूस में उच्च और विशेष अध्ययन की भाषा फ्रांसीसी थी। जब स्तालिन रूस के सत्ताधारी कम्युनिस्ट नेताओं की पहली पंक्ति का हिस्सा बन चुके थे, तब अपने एक भाषण में वे कहते

हैं, कि रूस की अक्टूबर क्रांति ने दुनिया के मेहनतकश समूह की निद्रा तोड़ दी और “सोवियत रूस के मॉडल पर फारस, चीन और भारत में मजदूरों और किसानों की सोवियत बनना इसका पर्याप्त प्रमाण है”। यह भाषण 19 नवंबर 1918 के प्रावदा में छपा था। (देखें, जे. वी. स्तालिन, “द अक्टूबर रिवोल्यूशन एंड द नेशनल क्वेश्चन”, ‘वर्क्स, मास्को: 1953, फॉरेन लेंग्वेज पब्लिशिंग हाऊस, खंड 4, पृ.167)। तो महान स्तालिन के मुताबिक 1918 में भारत रूसी मॉडल पर मजदूरों-किसानों की सोवियत बन चुकी थीं! कहाँ? यह उनके भक्त मार्क्सवादी इतिहासकार भी खोजकर निकाल नहीं पाएंगे। लेकिन स्तालिन की ऐसी ही किसी चलती-चलाती टिप्पणी पर भारतीय मार्क्सवादियों ने धर्म-पूर्वक भारत को चौदह या सत्रह राष्ट्रों का कृत्रिम समूह मान लिया था, और पाकिस्तान बनाने की सक्रिय वकालत की थी। (अपने सर्वोच्च आसन और चरम-सत्ता पर पहुँच चुके स्तालिन के स्वभाव, चरित्र और समझ के बारे में एक बेहतर चित्रण के लिए देखें, अलेक्सान्द्र सोल्झेनित्सिन, *द फर्स्ट सर्किल*, अठारहवाँ अध्याय। यह 1949 के स्तालिन का विवरण है, अर्थात् जब वह अपने कैरियर के शिखर पर थे।)

5. अशोक मित्र, “द सैफ्रन नेशन थ्योरी”, द टेलीग्राफ, कोलकाता, 7 जुलाई 1999, यही लेख उसी माह रिडिफ की वेबसाइट पर भी प्रकाशित हुआ। यहाँ उसका शीर्षक साफ-साफ था, “लेट गो ऑफ़ कश्मीर!” अर्थात् कश्मीर को जाने दो!
6. लोक सभा में 31 अगस्त 1960 की कार्रवाई से उद्धृत।
7. यह मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) और उसके नियंत्रण में चलने वाले जनवादी लेखक संघ जैसे संगठनों के मार्क्सवादियों के लिए ही सच है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) ने चीन के साम्राज्यवादी इरादों और पाकिस्तान से उसके भारत-विरोधी गठजोड़ की 1964 से 1990 तक आलोचना की। यानी तब तक जब तक सोवियत संघ रहा। सोवियत विघटन के बाद भाकपा भी चीनी कम्युनिस्टों के आश्रय में चली गई। संभवतः विदेशी आश्रय के बिना उनके लिए जीवन दूभर है!
8. मार्क्सवादियों के पास तथ्य के नाम पर अंधविश्वास तो रहा ही है। यह भी ध्यान देने की बात है कि उनकी शब्दावली और तर्क भंडार अत्यंत सीमित है। दूसरे दलों या सरकार का हर कदम ‘जनता का ध्यान बँटाने के लिए उठाया जाता है। हर केंद्रीय बजट से ‘जनता की बदहाली’ बढ़ेगी। उन पर सवाल उठानेवाला हर आदमी साम्राज्यवादी, बिरलाओं का या हिंदुवादी ‘एजेंट’ है। हर नापसंद रचना ‘जनविरोधी’ या ‘पुनरूत्थानवादी’ है, आदि। इसीलिए बड़े-बड़े मार्क्सवादियों के लेखन, भाषण को एक दूसरे से अलग करना; यहाँ तक कि स्वयं उनके अपने ही पिछले लेखन, भाषण से भिन्न कर पाना निहायत मुश्किल काम है। सब में एक सी बातें, एक से तर्क, कुतर्क या फतवे, एक जैसे लांछन, गालियाँ, खोखली भाविष्यवाणियाँ और इतिश्री। यह सीमित शब्दावली वस्तुतः चरम अंधविश्वास और भारी अज्ञान का प्रमाण है।
9. विस्तृत विवरण के लिए देखें हिंदुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, 26 और 27 अप्रैल 2001

10. उदाहरण के लिए 1990 में बिपन चंद्र अपनी एक किताब की भूमिका में तीसरी ही पंक्ति में लिखने हैं, “जो लोग मौजूदा सामाजिक और राजनीतिक ढाँचे को बदलना चाहते हैं, उनके लिए भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की भी प्रासंगिकता है”। बिपन चंद्र, मृदुला मुखर्जी तथा अन्य, *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष* (दिल्ली: 1990, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय), पृ. VII। स्पष्टतः मार्क्सवादी इतिहासकार “मौजूदा राजनीतिक ढाँचे को बदलने” और बदलने वालों के लिए यह किताब प्रस्तुत कर रहे हैं। यह एकदम आरंभ में ही साफ है।
11. क्या हमें मालूम है कि हर साल माकपा और भाकपा के कितने नेता चीन जाते हैं, और क्यों? यह यात्राएं गुप्त, या कम से कम मीडिया को बिना बताए होती हैं। इसमें संदेह है कि पूछने पर मार्क्सवादी नेता ऐसी यात्राओं की संख्या भी बताएंगे अन्य विवरण देना तो दूर की बात।

## वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली : नई पहल की जरूरतें

डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव\*

### भूमिका

हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं को प्रशासन, शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम बनाने का सपना तथा संकल्प स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के संविधान निर्माताओं ने बहुत सूझ-बूझ तथा विचार मंथन के पश्चात भारत की जनता के सम्मुख रखा। यह संकल्प, यह सपना भारत की सांस्कृतिक तथा भाषाई विविधता को ध्यान में रखकर लिया गया एक आदर्श ऐतिहासिक फैसला था। यह एक ऐसा संकल्प था, जो भारत की मिट्टी में जन्मी प्रज्ञा को ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में मौलिकता प्रदान करने तथा भारतीयता को सुरक्षित रखने के लिए लिया गया था। यह राष्ट्रीय एकता तथा सामाजिक विकास के लिए आवश्यक था तथा एक ऐसा भविष्यगामी फैसला था जिसमें ‘सर्वे भवन्तु सुखिना’ की भावना निहित थी।

जब कोई सपना देखा जाता है, जब कोई संकल्प लिया जाता है, जब कोई आदर्श सामने रखा जाता है, तो उसे मूर्तरूप देने के लिए कारगर योजनाओं और उनके क्रियान्वयन की आवश्यकता भी होती है। संविधान की 351 वीं धारा में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के लिए जो विधान किए गए, उन्हें कार्यरूप देने के लिए भारत सरकार ने कई योजनाएं बनाई जिसमें वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का विकास, मानकीकरण तथा एकरूपता की महत्वाकांक्षी योजना भी थी जो बाद में चलकर भारत सरकार की शिक्षा नीति में भी सम्मिलित की गई।

स्वतंत्रता के समय ज्ञान की विभिन्न विधाओं में अंग्रेजी भाषा का वर्चस्व था तथा पश्चिम से लिए हुए उधार के ज्ञान के लिए एक ऐसी शब्दावली भारतीय भाषाओं में विकसित करनी थी जिसका जन्म भारत की मिट्टी में नहीं हुआ था। इसी कारण यह सहज प्रयास न होकर कुछ अप्राकृतिक स्वरूप ग्रहण करने के लिए बाध्य थी। इस सायास और नियोजित प्रयास में तकनीकी पर्यायों या समानार्थी शब्दों का हिन्दी भाषा

\* डा. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (भारत सरकार) के पूर्व अध्यक्ष, तथा सुप्रसिद्ध प्रशासक, चिन्तक तथा विज्ञान-लेखक हैं।

में विधान किया जाना था। ऐसे पर्याय, जो अन्वेषक या विद्वान की कृति नहीं, बल्कि विषय विशेषज्ञ तथा भाषाविद् द्वारा मूल तकनीकी संकल्पना की सूचना अनूदित भाषा में संप्रेक्षित कर सकें।

शब्दावली निर्माण की इस असहज प्रक्रिया ने उस समय कई विसंगतियों को जन्म दिया। कई विद्वानों ने उस समय वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के विकास का काम प्रारंभ कर दिया। कुछ विद्वानों ने शब्दावली को संस्कृतनिष्ठ करना चाहा, तो कुछ ने इसे उर्दू-फारसी और हिंदुस्तानी कही जाने वाली भाषा में ढालना चाहा। उस समय कुछ ऐसे भी विद्वान थे जिन्होंने अंग्रेजी के तकनीकी शब्दों को देवनागरी में लिप्यांतरण करके स्वीकार करने की पेशकश रखी परंतु इन सबसे वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों के बहुयामी तथा विशाल शब्द भण्डार को अपनी भाषा के व्याकरण,

उसकी प्रकृति तथा विद्यार्थियों, प्राध्यापकों, शोधार्थियों, अनुवादकों, ग्रंथ-लेखकों की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हो रही थी और जिस ढंग से लोग शब्दावली का निर्माण कर रहे थे उससे संविधान की गरिमा में निहित आशय की पूर्ति भी नहीं हो पा रही थी। एक ही तकनीकी शब्द के कई-कई पर्याय उपलब्ध होने से एक ऐसी अराजक स्थिति उत्पन्न हो गई जिसने शब्दावली निर्माण के नियोजन तथा प्रबंधन की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। ऐसे में भारत सरकार ने यह कार्य अपने हाथ में लेना ही उचित समझा और 1 अक्टूबर 1961 को स्थाई आयोग के रूप में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना राष्ट्रपति के आदेश के अधीन की गई। पद्म विभूषण प्रोफेसर दौलत सिंह कोठारी-जैसे स्वप्नद्रष्टा, प्रसिद्ध तथा मूर्धन्य वैज्ञानिक को आयोग का पहला अध्यक्ष बनाकर भारत सरकार ने यह सिद्ध किया कि वह वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में विकास हेतु गंभीर प्रयास के लिए कटिबद्ध है।

प्रो. कोठारी ने वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली के विकास के लिए समन्वयवादी दृष्टिकोण को अपनाया तथा शब्दावली निर्माण, उसकी समीक्षा एवं समन्वयन के लिए कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का निरूपण किया जिसके पालन करने से भारत की सामासिक संस्कृति, भाषाई विविधता, राष्ट्रीय एकता तथा अस्मिता को सुरक्षित रखते हुए ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की आधुनिक तथा आधुनिकतम आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली को विकसित करने में किसी प्रकार की कोई रुकावट नहीं आ सकती थी। प्रो. कोठारी ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत की शिक्षा नीति के निर्धारण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा उन्होंने राष्ट्रीय विकास में शिक्षा के योगदान तथा भावी पीढ़ी की आवश्यकताओं को भी पहचाना। अपनी ठोस अवधारणाओं की समृद्ध नींव पर प्रो. कोठारी ने शब्दावली आयोग की यात्रा के लिए एक ऐसे निष्कण्टक पथ का निर्माण किया था जिस पर प्रश्नचिन्ह लगाना बहुत सरल नहीं है।

## शब्दावली आयोग: उपलब्धियाँ

अपनी स्थापना से अब तक के 42 वर्षों में शब्दावली आयोग ने विधि को छोड़ ज्ञान की विभिन्न शाखाओं, यथा-विज्ञान, मानविकी, समाजशास्त्र, कृषि, आयुर्विज्ञान तथा इंजीनियरी इत्यादि में लगभग 8 लाख तकनीकी शब्दों के हिन्दी पर्याय निर्धारित कर उन्हें विभिन्न विषयों के शब्द-संग्रहों तथा परिभाषा-कोशों के रूप में प्रकाशित किया है। साथ ही साथ सन् 1968 में ग्रंथ निर्माण की योजना के अन्तर्गत 15 राज्यों में 'ग्रन्थ अकादमी' तथा 'पाठ्य पुस्तक मण्डलों' की स्थापना भी की है जिससे कि हिन्दी के साथ-साथ भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं में तकनीकी शब्दावली का विकास तथा पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन किया जा सके। शब्दावली आयोग तथा विभिन्न राज्यों में स्थापित 'ग्रंथ अकादमियों' तथा 'पाठ्य-पुस्तक मण्डलों' के समन्वित प्रयास से अब तक लगभग 12 हजार से अधिक पाठ्य-पुस्तकों का प्रकाशन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त पूरक सामग्री के रूप में ग्रंथ-मालाओं, चयनिकाओं तथा पत्र-पत्रिकाओं की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है। अखिल भारतीय शब्दावली, विभागीय शब्दावलियां तथा प्रशासनिक शब्दावली अपने आप में आयोग के अनूठे प्रयास हैं। शब्दावली आयोग ने कम्प्यूटरीकृत राष्ट्रीय शब्दावली बैंक की स्थापना भी की है।

प्रो. कोठारी ने शब्दावली निर्माण के जिस यज्ञ को प्रारंभ किया था वह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में हो रही प्रगति इसकी द्योतक है। नित नए शोध हो रहे हैं, नित नए तकनीकी शब्द सामने आ रहे हैं और उनके हिन्दी पर्याय निर्धारण का कार्य, उनके 'कोडीकरण का प्रयास' तथा उनके 'मानकीकरण' का कार्य अद्यतन रूप से शब्दावली आयोग में आज भी किया जा रहा है।

जिस निष्ठा, जिस संकल्प तथा जिस परंपरा को प्रो. कोठारी ने प्रारंभ किया था वह आज भी अक्षुण्ण है। 42 वर्षों के आयोग के क्रिया-कलाप, उसकी उपलब्धियां एक गौरवशाली परंपरा तथा इतिहास की द्योतक हैं।

विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाने वाला ऐसा कोई विषय नहीं होगा या प्रयोजनमूलक हिन्दी की ऐसी कोई विधा अब नहीं बची है जिसकी अंग्रेजी आधारित संकल्पनाओं को व्यक्त करने वाले हिन्दी पर्याय स्थिर न हो गए हों। आयोग की अखिल भारतीय शब्दावली योजना के अन्तर्गत 18 शब्दावलियां प्रकाशित की जा चुकी हैं जिसमें 20,000 ऐसे शब्दों को विषयवार संकलित किया गया है जिन्हें अखिल भारतीय शब्दावली के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अखिल भारतीय शब्दावली का समेकित संग्रह भी आयोग ने अभी हाल में ही प्रकाशित किया है।

विज्ञान में उच्च-स्तरीय लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए आयोग विज्ञान की त्रैमासिक पत्रिका 'विज्ञान गरिमा सिंधु' का प्रकाशन 1986 से करता आ रहा है।

जिसके अब तक 40 अंक प्रकाशित हो चुके हैं। मानविकी तथा समाज विज्ञान विषयों में इसी उद्देश्य से 'ज्ञान गरिमा सिंधु' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी जनवरी 2000 से प्रारंभ किया गया है। 'www.cstt.nic.in' आयोग का अपना बैबसाइट है जिसे राष्ट्रीय सूचना केन्द्र के सर्वर पर फरवरी 2000 में प्रारम्भ किया गया। साथ ही "http://shikshanic.nic.in/csttterms/index.asp" इन्टरनेट के पोर्टल पर आयोग द्वारा संरचित महत्त्वपूर्ण विषयों की शब्दावलीयों (लगभग 2.5 लाख शब्द) को खंगाला जा सकता है, जिसे मार्च 2001 में प्रारम्भ किया गया है।

आयोग ने अगस्त 2000 में सूचना प्रौद्योगिकी तथा कम्प्यूटर विज्ञान की विभिन्न विधाओं के लगभग 10,000 तकनीकी शब्दों के हिन्दी पर्याय निर्धारित कर उन्हें सी.डी.के रूप में उपलब्ध कराया जिसमें सरल अभिगमन तकनीक का प्रयोग किया गया है।

आयोग ने अब तक के अपने कार्यों द्वारा बहुत बड़े भाषिक युगांतर का प्रयास किया है। आयोग की अभूतपूर्वता और वांछनीयता इन बातों से किसी भी हालत में कम नहीं हो जाती कि आयोग द्वारा संरचित शब्दों में से कुछ चल नहीं पाए, या कुछ सही नहीं हैं या कि कुछ क्लिष्ट हैं। हाँ, यह जानना आज नितांत आवश्यक है कि इन शब्दों में से कितने ग्राह्य हुए, कितने अशुद्ध, अनुचित, अति क्लिष्ट अथवा कितने अमान्य ठहराए गए तथा कितनों के एक से अधिक ग्राह्य विकल्प उपलब्ध हैं। अतः इस प्रकार के 'फीडबैक' लेना आयोग के लिए उचित ही होगा कि शिक्षार्थियों और शिक्षकों के आयोग की शब्दावली के बारे में क्या अनुभव रहे, उनके क्या सुझाव हैं, आदि। लेखक, पत्रकार तथा जो विद्वान वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों पर पाठ्य-पुस्तकें, मोनोग्राफ या अन्य सहायक सामग्री हिन्दी में लिख रहे हैं उनके भी अभिमत तथा अनुभव इस दिशा में महत्त्वपूर्ण होंगे। इस प्रकार का 'फीडबैक' लेने या 'सर्वेक्षण' कराने का प्रयास आज तक नहीं किया जा सका है जब कि इस संबंध में संसद में अनेकों बार प्रश्न किए जाते रहे हैं। इसके लिए एक प्रश्नावली तैयार की जानी चाहिए तथा किसी ऐसी संस्था को यह सर्वेक्षण कार्य सौंपा जाए जो सभी हिन्दी भाषी प्रदेशों के प्रतिनिधि विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों तथा शोध संस्थाओं में कम से कम 50 हजार नमूनों से आंकड़े एकत्र कर विभिन्न महत्त्वपूर्ण प्राचलों पर उनका विश्लेषण कर अपनी रिपोर्ट छः माह में प्रस्तुत कर दें। यह कार्य आयोग अपने वित्तीय संसाधनों से करा सकता है बशर्ते इसमें मंत्रालय में बैठी नौकरशाही रोड़े न अटकावे तो!

### माध्यम परिवर्तन : पराजित अपेक्षाएं

आयोग के सामने यह सच्चाई भी आना जरूरी है कि उसके द्वारा निर्मित शब्दों को बहुत कम व्यवहार में लाया जा रहा है जो कि चिन्ता विषय है। अतः यह जानना भी आवश्यक है कि विश्वविद्यालय स्तर के विभिन्न पाठ्यक्रमों में हिन्दी या अन्य

भारतीय भाषाओं का माध्यम के रूप में कितना प्रयोग हो रहा है। इसके लिए क्या प्रयास किए गए तथा कौन से वे कारण हैं जिनकी वजह से आज भी विभिन्न विश्वविद्यालयों में वैज्ञानिक, तकनीकी तथा चिकित्सा विषयों का अध्ययन-अध्यापन अधिकांशतः अंग्रेजी माध्यम से हो रहा है। यह एक गंभीर मामला है क्योंकि इसमें आयोग का कितना दोष है और कितना नीति निर्धारकों का, इसका खुलासा होना चाहिए। क्या माध्यम परिवर्तन में को लागू करवाने आयोग की कोई भूमिका बनती है या उसे केवल इस कार्य हेतु महज शब्दावलीयों, पाठ्य-पुस्तकों, पूरक सामग्री तथा पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन तक ही सीमित रखा गया है। क्या आयोग को इस प्रकार के कोई अधिकार दिए गए हैं कि वह अपने द्वारा संरचित शब्दावलीयों को प्रयोग करने के लिए प्रयोक्ताओं को बाध्य कर सके या अपने कोशों को व्यापक मान्यता दिलाकर उन्हें व्यवहार में ले आने के लिए कोई नियम-कानून बना सके ?

शब्दावली आयोग के गठन के समय विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी अनुसंधान परिषद, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, उच्च तकनीकी शिक्षा परिषद, विभिन्न विश्वविद्यालयों, शोध संस्थाओं तथा सरकारी तथा गैर-सरकारी संगठनों तथा उपक्रमों से यह अपेक्षा की गई थी कि वह न केवल शिक्षा में माध्यम परिवर्तन के लिए किए जा रहे प्रयासों को समन्वित रूप से चलाएंगे, बल्कि राजभाषा अधिनियमों की अपेक्षाओं को पूरा करते हुए हिन्दी को सरकारी कामकाज की भाषा के रूप में भी प्रतिष्ठित करेंगे। यह भी कहा गया था कि शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित तकनीकी शब्दावली ही मानक शब्दावली मानी जाएगी तथा शिक्षा और प्रशासन के क्षेत्रों में इसी शब्दावली को उपयोग में लाने के लिए सभी बाध्य होंगे। परन्तु क्या इन अपेक्षाओं की पूर्ति हो सकी? है वे कौन-सी विवशताएँ रही हैं जिनके कारण इस नीति का क्रियान्वयन सफलतापूर्वक नहीं हो पाया है? मेरे विचार से हम संविधान के संकल्प से काफी हद तक विमुख होते दिखाई दे रहे हैं। क्या इसका कारण प्रत्येक संस्था का अलग-अलग द्वीप में परिवर्तित हो जाने के कारण है? या कि हम अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीन हो चले हैं। मैं किसी पर आरोप लगाना नहीं चाहता परन्तु यह एक महत्त्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है कि इन संस्थाओं में समन्वय तथा एकजुटता कैसे कायम की जाए और किस प्रकार एक साझा कार्यक्रम बनाकर उस पर सकारात्मक और ठोस कार्य किया जाए जिससे कि शिक्षा तथा प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठित कर उनके गौरव को अक्षुण्ण रखा जा सके। विद्यार्थी, अध्यापक तथा प्रशासक कुछ हद तक इसीलिए भी आज अंग्रेजी के मोह में जकड़े हुए हैं क्योंकि हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाओं को हम रोजगार की भाषा नहीं बना पाए हैं। जब तक हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को व्यवसाय के साथ नहीं जोड़ा जाता तब तक माध्यम परिवर्तन तथा राजभाषा के क्रियान्वयन का सपना नक्कारवाने में तूती ही साबित होगा।

देश के सारे विश्वविद्यालयों में हिन्दी या अन्य भारतीय भाषाएं शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकृत तो हैं पर विडंबना यह है कि उनको अपनाने वाले विद्यार्थियों तथा अध्यापकों की जमात व्यवसाय की तलाश में अंग्रेजी को अपनाने के लिए मजबूर हैं। चिकित्सा तथा इंजीनियरी की स्नातक, स्नातकोत्तर शिक्षा में माध्यम परिवर्तन की कोई बात भी नहीं करता। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग ने अब तक जो सुनियोजित और विपुल प्रयास किए हैं उसके बूते पर शिक्षा में हिन्दी माध्यम स्वर्ग्राही हो जाना चाहिए था, भाषिक परिदृश्य पूर्णतः बदला नजर आना चाहिए था। जब तक यह परिदृश्य नहीं बदलता, तब तक शब्दावली आयोग के कोशों तथा पाठ्य-पुस्तकों का प्रयोग भी आगे नहीं बढ़ सकेगा।

भारत सरकार की सन 1986 की शिक्षा नीति पर एक 'कार्य योजना-1992' बनाई गई, जिसमें भाषाओं के विकास को प्रमुखता प्रदान की गई है। विश्वविद्यालय स्तर पर माध्यम परिवर्तन की नीति की समीक्षा करते समय यह पाया गया कि (1) पुस्तकों के लेखन तथा प्रकाशन में विश्वविद्यालयों द्वारा आधुनिक भारतीय भाषाओं को माध्यम बनाने के लिए किए गए प्रयासों के मध्य ठीक-ठीक तालमेल स्थापित नहीं हो पाया (2) विश्वविद्यालय के प्राध्यापक, जिन्होंने अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त की है, को भारतीय भाषाओं में पढ़ाने में कठिनाई होती है (3) सामान्यतः प्राइवेट प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों को उपयोग में ले आने की संस्तुतियाँ होती हैं (4) व्यावसायिक स्तर पर होने वाली प्रतियोगिताओं तथा नौकरी की उपलब्धता नहीं के बराबर होने के कारण भारतीय भाषाओं में शिक्षा लेना छात्रों में लोकप्रिय नहीं हो रहा है। इन प्रश्नों की समीक्षा के लिए सुरेश दलाल समिति का गठन किया गया। मंत्रालय द्वारा दलाल समिति की संस्तुतियों का परीक्षण करने के बाद विश्वविद्यालय स्तर पर पुस्तकों के निर्माण तथा प्रकाशन की योजना को चालू रखने का निर्माण लिया गया।

उपरोक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि पाठ्य-पुस्तकों की उपलब्धता या शब्दावली की कमी इस बात के कारण नहीं हैं कि शिक्षा में माध्यम परिवर्तन को लागू करने में सफलता नहीं मिली बल्कि (1) विश्वविद्यालयों द्वारा भारतीय भाषाओं को शिक्षा तथा परीक्षा का माध्यम बनाने के प्रति घोर उदासीनता तथा (2) उन छात्रों के लिए नौकरी के अवसरों की अत्यधिक कमी, जिन्होंने आधुनिक भारतीय भाषाओं में शिक्षा ग्रहण की है, असफलता के प्रमुख कारण रहे हैं। इन दोनों कारणों का निवारण शब्दावली आयोग के अधिकारों से बाहर हैं। अतः इस विषय में राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालयों को पहल करनी पड़ेगी तथा किसी ठोस कार्यक्रम को व्यावहारिक स्वरूप देना होगा। यह एक-नीतिगत फैसला है जिस पर केन्द्र सरकार को तत्काल ध्यान देना चाहिए।

## शब्दावली आयोग : प्रश्नों की सच्चाई

आज जब हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के प्रति सभी लोग आशंकित और क्षुब्ध हैं, तब आयोग द्वारा निर्मित वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली पर प्रश्नों के बाण चलाना अस्वाभाविक नहीं लगता। जिस उद्देश्य से वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का निर्माण किया जा रहा है, जब तक उसका क्रियान्वयन सुचारू रूप से नहीं होता तब तक लोग अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाने में लगे रहेंगे तथा आरोप-प्रत्यारोप का दौर चलता रहेगा। आज कुछ लोग यह कहते हुए मिल जाएंगे कि शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित शब्द बहुत ही कठिन तथा संस्कृतनिष्ठ है। मैं ऐसे लोगों के प्रश्नों को इसलिए महत्त्व नहीं देना चाहता क्योंकि वे बोलचाल की भाषा और विशेषज्ञों की तकनीकी भाषा में अन्तर कर पाने में सक्षम नहीं हैं। तकनीकी शब्द की अपनी परिभाषा होती है और उसे केवल विषय विशेषज्ञ ही समझ सकता है। अतः तकनीकी शब्द का आम बोलचाल के शब्दों से अलग होना बहुत ही स्वाभाविक है। शब्द कठिन इसलिए लगते हैं क्योंकि उसको हम व्यवहार में नहीं लाते। सही में शब्द सरल और कठिन नहीं होते, शब्द परिचित और अपरिचित होते हैं। जिस शब्द से आप परिचित होंगे वह आपको सरल लगेगा और जिससे अपरिचित होंगे वह आपको कठिन लग सकता है। शब्दों से जैसे-जैसे परिचय बढ़ेगा, जैसे-जैसे उसका अधिक प्रयोग होगा, वह अपने आप सरल हो जाएगा। अतः संस्कृतनिष्ठ, क्लिष्ट तथा कठिन कहकर शब्दावली आयोग द्वारा निर्मित पर्यायों को खारिज करना अंग्रेजी के प्रति मोह का ही द्योतक है।

यह एक सत्य है कि, शब्दावली-उद्द्विकास की जटिल तथा चुनौतिपूर्ण प्रक्रिया में विभिन्न विषयों की समितियों और संगोष्ठियों के विशेषज्ञों के रूप में केवल हिन्दी भाषी विषय विशेषज्ञों तथा भाषाविदों को ही नहीं वरन अन्य भारतीय भाषाओं के विद्वानों को शामिल कर आयोग ने यह स्पष्ट किया है कि आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली केवल हिन्दी या हिन्दी प्रदेशों में ग्राह्य हो इस दृष्टि से नहीं, बल्कि समस्त भारतीय भाषाओं में ग्राह्य होने की दृष्टि से उद्द्विकसित की जा रही है। ऐसा माना जाना चाहिए कि जब विभिन्न राज्य अपनी-अपनी भाषाओं में उच्च शिक्षा दे रहे होंगे, तो वे आयोग की तकनीकी शब्दावली का प्रयोग करेंगे, शेष अभिव्यक्ति और शिक्षण अपनी भाषा में करेंगे। आयोग की अधिकांश शब्दावली के संस्कृतनिष्ठ होने का यह नैसर्गिक लाभ सब के लिए हितकर है क्योंकि अधिकांश भारतीय भाषाओं की शब्दावली का उत्स वैसे भी संस्कृत रही है। संस्कृत-जैसी भाषा को आधार बनाकर शब्दावली संरचित करने का प्रत्यक्ष लाभ तो यह है कि इस भाषा में प्रकृति-प्रत्यय, उपसर्ग-परसर्ग और समास की ऐसी पाणिनीय प्रक्रिया है जिसे अपना कर करोड़ों नए शब्द या संकुल बनाए जा सकते हैं। संविधान के अनुच्छेद 351 में भी यही भाव व्यक्त किए गए हैं।



बहुत से लोग यह प्रश्न भी करते हैं कि शब्दावली के प्रयोग में एकरूपता नहीं है। यह प्रश्न आयोग को न दिए जाने वाले उन अधिकारों की मांग करता है जिससे कि आयोग शैक्षणिक संस्थाओं, शोध संस्थाओं, केंद्र तथा विभिन्न राज्यों की सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों को समान शब्दावली के प्रयोग के लिए बाध्य कर सकें। क्या आयोग को कोई ऐसे अधिकार सरकार ने दिए हैं? नहीं! इसीलिए लोग अपने ढंग से मनमानी शब्दावली का प्रयोग कर अराजक स्थिति को उत्पन्न कर रहे हैं तथा उल्टा आरोप आयोग पर लगाया जाता है। यह भारतीय समाज की विडंबना ही है कि शब्दावली आयोग जैसी संस्था के शब्दों का प्रयोग न करने में ही कुछ व्यक्ति तथा संस्थाएं अपना गौरव समझती हैं तथा अपना सिक्का चलाने में ही उन्हें खुशी होती है। ऐसे फूहड़ प्रयासों को सख्ती के साथ बंद करना होगा। आयोग जो पर्याय प्रस्तुत करे वही सर्वग्राही हो। गृह मंत्रालय के राजभाषा विभाग तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को इस दिशा में पहल करनी होगी तथा कुछ कठोर निर्णय लेने होंगे।

### शब्दावली आयोग : बंधुआ प्रशासन

मैं यहां बहुत विनम्रता के साथ आयोग से जुड़े हुए कुछ मूलभूत प्रशासनिक मुद्दों पर भी विचार रखना चाहता हूँ। राष्ट्रपति के आदेश से वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग को एक स्थाई आयोग का दर्जा प्राप्त है। परंतु यदि आयोग के इतिहास पर गौर करें तो आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों को मनोनीत करने के आगे प्रशासन संबंधी कोई भी स्वतंत्रता इस आयोग को नहीं दी गई। इस स्थाई आयोग को प्रारंभ से ही शिक्षा मंत्रालय की (आज का मानव संसाधन विकास मंत्रालय) एक संबंध संस्था के रूप में रखा गया तथा इसके कर्मचारियों के चयन, उनकी पदोन्नति इत्यादि जैसे महत्वपूर्ण प्रशासनिक मामले केंद्रीय हिंदी निदेशालय करता आ रहा है। यही नहीं, धीरे-धीरे शब्दावली आयोग के तमाम संसाधनों में भी कटौती होती रही है। आज ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न धाराओं, विभिन्न सरकारी विभागों की आवश्यकताओं तथा राजभाषा की बढ़ती हुई अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए शब्दावली आयोग संसाधनों के लिए जूझ रहा है।

प्रशासनिक मामलों में केंद्रीय हिंदी निदेशालय पर निर्भर रहने के कारण कई विसंगतियाँ पैदा होती हैं। जिन्हें दूर करने में बहुत समय लगता है तथा आयोग का स्टॉफ इससे प्रभावित होता है। आज जो संसाधन उपलब्ध हैं उन्हीं के सहारे अपना प्रशासन स्वयं संभालने के लिए आयोग सक्षम है। आयोग का अपना प्रशासनिक ढांचा होना ही तर्कसंगत लगता है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर आयोग को नई ऊर्जा मिलेगी तथा आयोग की क्षमता का विकास सही दिशा में हो सकेगा। इस समय आयोग में अकादमी तथा प्रशासनिक दोनों ही स्तरों पर स्टॉफ की अत्यधिक कमी है। अकादमी स्तर पर कई पद रिक्त पड़े हैं जिन्हें भरा जाना बहुत जरूरी है। आयोग में

इस समय विषय-विशेषज्ञों की भी कमी है जिसके लिए या तो नए पद सृजित किए जाएं या फिर विश्वविद्यालयों / शोध संस्थानों से विषय-विशेषज्ञों को साल-दो साल के लिए प्रतिनियुक्ति की योजना शुरू की जाए। जिस प्रकार केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के क्षेत्रीय कार्यालय हैं, उसी प्रकार शब्दावली आयोग के भी होने चाहिए ताकि भारत के कोने-कोने में अनुमोदित शब्दावली का प्रचार-प्रसार और अनुप्रयोग अधिक प्रभावशाली ढंग से हो सके। अतः आयोग को प्रशासनिक मामलों में स्वतंत्र रूप से कार्य करने के लिए स्वीकृति मिलना अत्यंत आवश्यक है।

### शब्दावली आयोग : स्वायत्तता का स्वरूप

सन् 1961 में जब शब्दावली आयोग की स्थापना हुई तब से अब तक की बदलती हुई परिस्थितियों में यह प्रश्न उठता है कि क्या आयोग के वर्तमान ढांचे में आवश्यकता अनुसार परिवर्तन ले आने का समय आ गया है या नहीं। इस विषय में विगत वर्षों में आयोग के क्रिया-कलापों तथा उपलब्धियों की समीक्षा करने के लिए जितनी भी समितियाँ बनाई गईं, सभी ने शब्दावली आयोग को एक स्वायत्तशासी संस्था का स्वरूप देने की संस्तुति की है। 'कार्य योजना 1992' में भी यह लिखा गया है "पाठ्य-पुस्तक निर्माण की योजना से संबंधित सभी पहलुओं पर राज्य सरकारों के साथ प्रभावशाली तरीके से तालमेल स्थापित करने के लिए शब्दावली आयोग को और मजबूत बनाया जाएगा तथा इसके संसाधनों को बढ़ाया जाना है"। पांचवें वेतन आयोग ने भी इस बात पर जोर दिया है कि शब्दावली आयोग को एक स्वायत्तशासी संस्था में बदल दिया जाए। इन संस्तुतियों तथा वर्तमान समय की आवश्यकताओं की नब्ज पहचान कर मंत्रालय भी इस दिशा सन् 2000 में सक्रिय हुआ पर आज तक फाइल तथा प्रयास ठड़े बस्ते में ही पड़े हैं जब कि संसद में मंत्रालय ने स्वीकारा है कि वह शब्दावली आयोग को स्वायत्तशासी संस्था का दर्जा देने के लिए सक्रिय प्रयास कर रहा है। आने वाले समय में आयोग भारतीय भाषाओं में शब्दावली निर्माण तथा पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन के प्रमोटर के रूप में कार्य करें, तो काई आश्चर्य की बात नहीं होगी। एक स्वायत्तशासी 'राष्ट्रीय शब्दावली आयोग' के क्रिया-कलाप जब तय किए जाएं तो आज तक की प्रशासनिक कमियों को दूर करने के साथ-साथ शब्दावली निर्माण की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए कुछ ठोस तथा नए कार्यक्रम लिए जाएं तथा आयोग के संसाधनों को भी समृद्ध किया जाए जिससे कि राष्ट्र की इस शीर्ष संस्था की अलग पहचान बन सके तथा उच्च शिक्षा में माध्यम परिवर्तन तथा हिन्दी को राजभाषा बनाने के संविधान के संकल्प को पूरा किया जा सके। यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि शब्दावली के अभिविन्यास, प्रकाशन तथा वितरण का एकमात्र अधिकार आयोग के पास ही रहे। शब्दावली आयोग से संबंधित विभिन्न संस्थाओं को मिल-जुल कर काम करना चाहिए, कुछ कार्यक्रम ऐसे निर्धारित करने चाहिए जिनका

क्रियान्वयन एक समय-सीमा के भीतर हो। आयोग के साथ न केवल शिक्षा तथा शोध की तमाम संस्थाओं का जुड़ना आवश्यक है बल्कि ऐसी अन्य संस्थाओं का जुड़ना भी आवश्यक है जो कि हिन्दी के प्रचार-प्रसार में लगी हुई हैं। तभी लक्ष्य की प्राप्ति दृढ़ संकल्प के साथ प्राप्त हो सकेगी।

### **शब्दावली : मुद्रण, बिक्री तथा वितरण**

आयोग की पुस्तकों को छापने में सरकारी मुद्रणालयों द्वारा अत्यधिक समय लगता है। यह विलंब सामान्यतः सरकारी मुद्रणालयों द्वारा वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की पुस्तकों को वरीयता न देने के कारण उत्पन्न होता है जबकि वस्तुस्थिति यह है कि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की पुस्तकें तत्काल उपलब्ध न होने के कारण महत्त्व खो देती हैं और विलंब के कारण इनकी महत्ता भी कम हो जाती है। यह बात कई मुद्रणालयों में दिए गए पुस्तकों के मुद्रण में लगने वाले समय से पता चलता है जो कि अक्सर एक वर्ष से अधिक का हो जाता है। यह बात समझ में नहीं आती है कि जब सरकारी मुद्रणालयों को आयोग द्वारा कैमरारेडी पाण्डुलिपि भेजी जाती है, तब इतना विलंब क्यों होता है ?

मैं यह भी महसूस करता हूँ कि आयोग की पुस्तकों के मूल्य निर्धारण पर एक नीतिगत फैसला लेना अत्यावश्यक है जिससे कि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित विभिन्न शब्द-संग्रह, परिभाषा-कोश इत्यादि को विद्यार्थी तथा अध्यापक आसानी से खरीद सकें।

शहरी विकास मंत्रालय के प्रकाशन विभाग द्वारा आयोग की पुस्तकों के मुद्रण, विक्रय तथा वितरण में भी बहुत सारी खामियाँ हैं, जिन्हें तत्काल दूर करना आवश्यक है। जैसा कि पाया गया है कि प्रकाशन विभाग से जब पुस्तक क्रय करने के लिए कोई विद्यार्थी या अध्यापक वहाँ पहुंचता है तो वह पुस्तक का नाम बताता है, पर प्रकाशन विभाग के लोग उससे पुस्तक का ई.बी. नंबर पूछते हैं जो कि सामान्यतः किसी भी विद्यार्थी या अध्यापक को मालूम नहीं होता है। इस आधार पर यह कह दिया जाता है कि यह पुस्तक उपलब्ध नहीं है। साथ ही साथ विभिन्न प्रदेशों की ग्रंथ अकादमियों द्वारा भी समय-समय पर यह शिकायत की गई है कि प्रकाशन विभाग द्वारा पुस्तकों को भेजने में अत्यधिक विलंब होता है तथा वे समय पर पुस्तकों की आपूर्ति नहीं कर पाते हैं। चूंकि वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की पुस्तकें आम सरकारी या अन्य प्रकाशनों से विल्कुल भिन्न हैं तथा यह विश्वविद्यालय के अध्यापकों/शोधकर्ताओं तथा छात्रों के लिए छापी जाती हैं, जिससे कि उच्च शिक्षा में माध्यम परिवर्तन को बढ़ावा दिया जा सके, अतः यह मूलतः अन्य सरकारी प्रकाशनों से भिन्न हैं। अतः यह जरूरी है कि इनके मुद्रण, बिक्री तथा वितरण के लिए सुचारू व्यवस्था हो तथा इस काम को विभिन्न प्रदेशों में स्थापित ग्रंथ अकादमियों के माध्यम से या प्राइवेट

प्रकाशकों को वितरक नियुक्त करके कराया जा सकता है। या फिर यह कार्य पूर्णतः आयोग को सौंप दिया जाए जिससे कि वह देश के विभिन्न केंद्रों में अपनी पुस्तकों को भेजकर इनका विक्रय तथा प्रचार-प्रसार कर सके। चूंकि आयोग की पुस्तकों की बिक्री का दायित्व प्रकाशन विभाग ने लिया हुआ है, अतः उसके प्रचार-प्रसार हेतु विज्ञापन निकालना भी प्रकाशन विभाग का ही दायित्व है। एक बार पुनः पुस्तकों के मुद्रण, बिक्री, प्रचार-प्रसार इत्यादि की नीति निर्धारित की जरूरत है जिससे कि जिस उद्देश्य से आयोग का गठन हुआ है, वह सुचारू रूप से पूरा किया जा सके। अच्छा होगा कि आयोग भी अपनी कुछ योजनाएं बनावे, इस कार्य को केवल भारत सरकार के प्रकाशन विभाग पर ही छोड़ना उचित नहीं रहेगा।

### **ग्रंथ-निर्माण की विसंगतियाँ**

आयोग को 'ग्रंथ अकादमियों' तथा 'पाठ्य पुस्तक मंडलों' के कार्यक्रमों में समन्वय स्थापित करने तथा उनका मॉनिटरिंग करने का काम सौंपा गया है तथा यह भी निर्धारित किया गया है कि विश्वविद्यालय के शिक्षकों के लिए शब्दावली प्रशिक्षण की कार्यशालाओं का आयोजन करे। साथ ही साथ विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को विभिन्न विश्वविद्यालयों में 'भाषा सेल' खोल कर क्षेत्रीय भाषा में अध्ययन-अध्यापन को प्रोत्साहित करने को कहा गया है। इसी प्रकार की व्यवस्था प्रत्येक राज्य के स्तर पर करनी है। इन कार्यक्रमों पर गंभीरतापूर्वक कार्ययोजना बनाना आवश्यक है तथा सूचना प्रौद्योगिकी के उपदानों को प्रयोग में ले आते हुए समन्वय स्थापित कर वर्तमान कमियों को दूर करना है। ग्रंथ अकादमियों द्वारा विषयगत संतुलन बनाते हुए स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशन पर ध्यान देना होगा। इसके लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, राज्य सरकारों तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों के शासी निकायों तथा कुलपतियों को आगे आना होगा।

कई राज्यों में स्थापित 'ग्रंथ अकादमियाँ' तथा 'पाठ्य पुस्तक मंडल' प्रशासनिक या आर्थिक कारणों से संकट की स्थिति से गुजर रहे हैं। केंद्र सरकार ने जो एक-एक करोड़ रूपए सन् 1968 में दिए थे, अधिकांश राज्यों ने ले लिए हैं परन्तु 'परिक्रामी निधि' की स्थापना न होने, कार्यक्रम निर्धारित न होने तथा प्रशासनिक राजनीति के कारण भी उनमें निष्क्रियता आई है। असम राज्य के गुवाहाटी तथा डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालयों के 'पाठ्य पुस्तक प्रकाशन संभाग' तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय का 'हिंदी सेल' इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। चूंकि पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन की योजना चलाई जानी है, अतः ऐसी संस्थाओं की पहचान कर उनकी व्यवस्था ठीक करने तथा उन्हें सक्रिय करने की पहल भी करनी अतिआवश्यक है। इस कार्य में राज्य सरकारों तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का सहयोग अपेक्षित है, तभी जिस समस्या की ओर मैं इंगित कर रहा हूँ उससे निपटा जा सकेगा।

भारत सरकार की नीतियों को ध्यान में रखते हुए पूर्वोत्तर राज्यों के शिक्षा में माध्यम परिवर्तन को बढ़ावा देने के लिए असमी भाषा में शब्दावली निर्माण तथा पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन हेतु गुवाहटी तथा डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालयों में प्रकाशन इकाइयों की स्थापना की गई थी। प्रारंभ में इन दोनों विश्वविद्यालयों ने सक्रिय रूप से प्रयास किए तथा असमी भाषा में वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों की अच्छी-अच्छी पुस्तकों का प्रकाशन हुआ, परंतु विगत कई वर्षों से इन दोनों विश्वविद्यालयों ने इन प्रयासों में रुचि लेना छोड़ दिया तथा पूर्णतः निष्क्रिय हो गई। असमी भाषा की गुवाहटी तथा डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालयों की प्रकाशन इकाइयों को पुनः सक्रिय करने के लिए दोनों विश्वविद्यालयों के साथ सितंबर 1999 में मेरे द्वारा की गई बैठकों में यह निर्णय लिया गया कि दोनों ही विश्वविद्यालय अपनी भविष्य की योजनाओं को अंतिम रूप देकर आयोग को भेजेंगे जिससे असमी भाषा में शब्दावली निर्माण तथा पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य पुनः सुचारू रूप से प्रारंभ किया जा सके। परन्तु बार-बार प्रयास करने के बाद भी इन दोनों ही विश्वविद्यालयों ने अपेक्षित उत्साह नहीं दिखाया। यही हाल काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के 'हिन्दी सेल' का भी है।

### शब्दावली आयोग : प्रयोक्ता तक सीधी पहुंच

प्रयोक्ता वर्ग तक अपने कार्य को तत्काल पहुंचाने के लिए आयोग ने कई प्रोत्साहन योजनाएं बनाई जिसमें विभिन्न विश्वविद्यालयों, डिग्री कॉलेजों तथा शोध संस्थानों में शब्दावली कार्य के लिए पुरस्कार, हिन्दी में शोध-प्रबंध लिखने पर शोध-छात्रों को आर्थिक सहायता, शब्दावली-निर्माताओं तथा इस क्षेत्र में कार्य करने वाले विद्वान विशेषज्ञों का सम्मान, राष्ट्रीय स्तर पर कोठारी स्मृति व्याख्यान, कक्षाओं में हिन्दी में व्याख्यान देने पर विश्वविद्यालय के अध्यापकों को प्रति व्याख्यान 500 रूपए का मानदेय, मानोग्राफ प्रकाशित करना तथा राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी में विज्ञान-लेखन को प्रोत्साहित करने की योजनाएं थी। साथ ही साथ वैज्ञानिक तथा तकनीकी विषयों की हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में प्रकाशित पुस्तकों की एक राष्ट्रीय पुस्तकालय की स्थापना करने की योजना भी थी। परन्तु इन योजनाओं के कार्यान्वयन करने में संसाधनों की कमी बराबर बाधा बनती रही।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा विज्ञान, मानविकी, समाजविज्ञान, आयुर्विज्ञान, कृषि, इंजीनियरी, इत्यादि शाखाओं और उपशाखाओं में प्रकाशित पारिभाषिक शब्द कोश, पाठमालाएं, चयनिकाएं, पत्रिकाएं इत्यादि शब्दावली आयोग के बिक्री केंद्र तथा प्रकाशन विभाग (भारत सरकार) के विभिन्न बिक्री केंद्रों से ही उपलब्ध हो पाती हैं जिससे सामान्यतः प्रयोक्ता को दिल्ली की ओर देखना पड़ता है। देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थाओं में यदि 'विज्ञान क्लबों' की तर्ज पर 'शब्दावली क्लब' भी स्थापित किए जाएं तो शब्दावली आयोग के प्रकाशन उन स्थानों के

शिक्षकों, छात्रों, अनुवादकों, लेखकों, पत्रकारों तथा प्रकाशकों को सुगमता से उपलब्ध हो सकेंगे। इस प्रकार शब्दावली का प्रचार-प्रसार भी बढ़ेगा और लोगों को हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में पठन-पाठन तथा लेखन कार्य करने में प्रोत्साहन के साथ-साथ सुगमता भी रहेगी। 'शब्दावली क्लबों' के माध्यम से शब्दावली आयोग के प्रकाशन दिल्ली से निकलकर शहर-शहर, कस्बों-कस्बों तक पहुंच सकेंगे तथा शब्दावली का 'गंगावतरण' हो सकेगा। 'शब्दावली क्लबों' में सभी प्रकाशनों को निःशुल्क भेजने तथा पुस्तकों के रख-रखाव के लिए कुछ आर्थिक सहायता देने का भी प्रस्ताव था। 'शब्दावली क्लबों' की स्थापना के पहले चरण में देश में लगभग सौ क्लबों की स्थापना का विचार था। मेरे कार्यकाल में सागर, इलाहाबाद, कानपुर, वाराणसी, इम्फाल, दार्जिलिंग, कोकराझार इत्यादि में दस शब्दावली क्लबों की स्थापना की गई। इस योजना की लोकप्रियता को देखते हुए आयोग ने इस कार्य को मेरे बाद भी कई स्थानों पर 'शब्दावली क्लबों' की स्थापना कर चालू रखा है।

शब्दावली के प्रचार-प्रसार हेतु विश्वविद्यालयों / शोध संस्थाओं में आयोग द्वारा चलायी जा रही कार्यशालाओं की संख्या बढ़ाने की जरूरत है तथा दृश्य एवं श्रवण मीडिया के नवीन उपादानों के प्रयोग से कार्यशालाओं में दिए जाने वाले व्याख्यानों की गुणवत्ता को और भी अधिक निखारा जा सकता है। जैसा की विदित है, शब्दावली प्रशिक्षण कार्यशालाओं में शब्दावली संबंधी अनेकों शंकाओं का समाधान तो हो ही जाता है साथ-ही साथ नवीन पर्यायों की संरचना के अवसर भी प्राप्त होते हैं। ऐसी कार्यशालाओं को हिंदी-भाषी प्रदेशों में तो आयोजित किया ही जाना चाहिए परंतु इन्हें क्षेत्रीय भाषाओं तक ले जाना भी आज आवश्यक है। इसके लिए आयोग तथा अन्य भारतीय भाषाओं के पाठ्य-पुस्तक मंडलों के सहयोग से द्विभाषी कार्यशालाएं आयोजित की जा सकती हैं। जैसे किसी भी विषय में हिंदी-मराठी, हिंदी-गुजराती, हिंदी-पंजाबी, हिंदी-बंगला, हिंदी-उड़िया कार्यशालाओं से प्रारंभ कर हिंदी-तेलगू, हिंदी-मलयालम तथा हिंदी-तमिल तक पहुंचा जा सकता है। ऐसी द्विभाषीय कार्यशालाएं नवीन संभावनाओं के द्वार तो खोलेंगी ही, राष्ट्रीय एकता तथा हिंदी को संपर्क भाषा के रूप में प्रतिष्ठित भी करेंगी। आयोग के द्वारा निर्मित शब्दावली को प्रयोक्ता तक पहुंचाने, फीड बैक लेने, उसे कसौटी पर कसने तथा हिन्दी पर्यायों के मानकीकरण हेतु 'शब्दावली-यात्रा' जैसे कार्यक्रम भी प्रारंभ किए जा सकते हैं, जिसमें शब्दावली आयोग के कुछ अधिकारी उच्च शिक्षा तथा शोध के प्रतिष्ठानों में जाकर व्याख्यान दें, पुस्तकों की प्रदर्शनी लगाएं तथा लिखित में प्रयोक्ता की राय लें, जिनका विश्लेषण कर भविष्य की योजनाएं बनाई जा सकें।

नए विषयों में शब्दावली निर्माण के लिए परियोजनाएँ भी बनाई जा सकती हैं जो विशेषज्ञ संस्था में आयोग के आर्थिक सहयोग से चलाई जाएं, जिससे शब्दावली निर्माण का कार्य त्वरित हो सके। यह इसलिए भी आवश्यक है कि जब तक आयोग

द्वारा हिन्दी पर्याय प्रकाशित होकर आता है तब तक अंग्रेजी का शब्द इतना प्रचलित हो जाता है कि लोग हिन्दी के पर्याय को अपनाने में उदासीनता दिखाने लगते हैं। आयोग को केवल शब्दावली निर्माण में ही नहीं, वरन् प्रकाशन, मुद्रण, प्रदर्शनी, बिक्री तथा प्रयोक्ता तक सीधी पहुंच की नई योजनाएँ लागू करनी होंगी तथा उसी के अनुरूप अपनी क्षमता का विकास भी करना होगा। सूचना प्रौद्योगिकी के इस युग में जब कि सूचना का आदान-प्रदान अत्यधिक व्यापक होता जा रहा है तथा इसके लिए नित नए-नए उत्पादन बाजार में आ रहे हैं, तब शब्दावली आयोग को कम्प्यूटर तथा व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रशिक्षित, स्पष्ट दृष्टिकोण, कल्पनाशील तथा उत्साही स्टाफ की हर स्तर पर आवश्यकता है। इलेक्ट्रॉनिक फार्मेट में शब्दावली को ले जाने से निःसंदेह उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ेगी तथा प्रयोक्ता तक शब्दावली की पहुंच भी सहज हो सकेगी।

आयोग द्वारा अद्यतन शब्दों का निर्माण जितनी जल्दी हो सके करना चाहिए तथा उन्हें अपने वेबसाइट पर उपलब्ध कराना चाहिए। ऐसे शब्दों को एक तिमाही या छः माही बुलैटिन में भी प्रकाशित कर उन पर विद्वानों की राय लेनी चाहिए।

आयोग को अपनी शब्दावली के समेकित संग्रह के प्रकाशन की ओर भी ध्यान देना चाहिए क्योंकि अब तक आयोग की शब्दावली का समेकित संग्रह प्रकाशित नहीं हो सका है।

आयोग द्वारा आयोजित कार्यशालाओं तथा अन्य अवसरों पर पुस्तकों की प्रदर्शनी तो लगाई ही जाती है परंतु दिल्ली के आस पास के राज्यों में आयोग की प्रदर्शनी-वैन बराबर भ्रमण पर रहे, डिग्री कॉलेजों, सरकारी प्रतिष्ठानों में एक शहर में कुछ दिनों तक घूमे तो आयोग की पुस्तकों की बिक्री बढ़ेगी तथा शब्दावली का प्रचार-प्रसार भी बढ़ेगा। अतः आयोग को कम से कम ऐसे दो प्रदर्शनी-वैन तत्काल खरीद कर भ्रमण करती प्रदर्शनियाँ लगानी चाहिए। आयोग हिन्दी में प्रकाशित होने वाली विज्ञान पत्रिकाओं, जिनमें से अधिकांश की आर्थिक स्थिति संतोषजनक नहीं है, आर्थिक सहायता देकर, अपनी शब्दावली को प्रयुक्त करने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है।

आयोग ने अब तक विभिन्न विषयों की शब्दावलियों पर बहुत कार्य किया है। विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों को ध्यान में रखते हुए इस समय विभिन्न विषयों की उप शाखाओं में शब्दावली को उपलब्ध कराने का प्रयास भी किया जाना चाहिए। जिससे हिन्दी को उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में लागू करने का कार्य त्वरित गति से पूरा किया जा सके तथा प्रश्न-पत्र स्तर तक शब्दावली उपलब्ध हो सके। वैज्ञानिक-लेखन में संक्षिप्त नामों तथा संकेताक्षरों की उपलब्धता भाषा के अपनाए जाने की दृष्टि से महत्वपूर्ण होती हैं। हिन्दी शब्दावली में इस सुविधा को विकसित नहीं किया जा सका है। अतः हिन्दी में आद्याक्षरों पर नवीन सोच की जरूरत है तथा

आयोग इस संबंध में विद्वानों से विमर्श करने की प्रक्रिया प्रारम्भ कर इस काम को तत्काल प्रारम्भ करे नहीं तो 'ध्रुवीय उपग्रह प्रेक्षक यान' के लिए पी.एस.एल.वी. ही लिखा जाता रहेगा।

### पूर्वोत्तर राज्य : शब्दावली की समस्या

सन् 1994 में शिक्षा विभाग द्वारा कोल्हाटकर समिति का गठन किया गया तथा हिन्दी प्रदेशों की 'ग्रंथ अकादमियों' तथा अहिन्दी भाषी राज्यों के 'पाठ्य पुस्तक मंडलों' के क्रिया-कलापों की समीक्षा का कार्य सौंपा गया। कोल्हाटकर समिति ने मणिपुरी, नेपाली तथा कोकणी भाषाओं में 'पाठ्य पुस्तक मंडलों' की स्थापना की संस्तुति दी है। हिन्दी प्रदेशों में हिमाचल, उत्तरांचल, झारखंड तथा छत्तिसगढ़ ही ऐसे राज्य हैं जहां अब तक ग्रंथ अकादमी की स्थापना नहीं हो पाई है। इस दिशा में पहल होनी चाहिए तथा कश्मीरी भाषा में एक पुस्तक प्रकाशन सेल भी खोला जाना चाहिए।

पूर्वोत्तर राज्यों में भाषागत विविधताओं, अंग्रेजी को कई राज्यों द्वारा राज्य की भाषा घोषित किया जाना तथा शिक्षा में क्षेत्रीय भाषाओं की शैशव अवस्था को देखते हुए मैंने इसे एक चुनौती के रूप में लिया तथा सर्वप्रथम मणिपुर राज्य में मई 1999 में सात दिनों की एक कार्यशाला मणिपुर विश्वविद्यालय, इम्फाल में राज्य के शिक्षा निदेशालय के भाषा प्रभाग के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित की गई। इस कार्यशाला का उद्घाटन मणिपुर राज्य के तत्कालीन राज्यपाल महामहिम श्री ओ. एन. श्रीवास्तव ने किया तथा समापन कार्यक्रम तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री डब्लू. निमामाचा सिंह के कर कमलों द्वारा संपन्न हुआ। सात दिनों की इस कार्यशाला में मणिपुरी भाषा के विद्वान, वैज्ञानिक तथा शिक्षक इत्यादि बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए तथा उन सिद्धांतों को अंतिम रूप दिया जिनके आधार पर मणिपुरी भाषा में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली का निर्माण होना है। इस कार्यशाला में हुए विचार मंथन का परिणाम अत्यंत ही उत्साहवर्धक रहा तथा इसके पश्चात हुई कई बैठकों में भौतिक विज्ञान, प्राणी विज्ञान, मानविकी तथा समाजशास्त्र के विभिन्न विषयों में लगभग 20 हजार तकनीकी शब्दों के मणिपुरी पर्याय निर्धारित किए जा चुके हैं तथा इन्हे अंतिम रूप देकर तथा 5,000 अन्य नए शब्दों को जोड़कर मणिपुरी भाषा में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली को चार खंडों में प्रकाशित किया जाना है। साथ ही साथ मणिपुरी भाषा में पाठ्य पुस्तक मंडल स्थापित करने के लिए एक करोड़ रूपया अवमुक्त करने का प्रस्ताव भी मंत्रालय के विचाराधीन है।

पूर्वोत्तर राज्यों में नागालैंड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश तथा मिजोरम ऐसे राज्य हैं जिनकी राज्य भाषा अंग्रेजी है। अतः वहां पर शब्दावली आयोग को कार्य करने की कोई विशेष गुंजाइश नहीं है। त्रिपुरा में बंगला भाषा का प्रयोग होता है, अतः वहां पर बंगाल टैक्स्ट बुक बोर्ड, कोलकाता द्वारा किया गया कार्य उपयोगी रहेगा।

अरुणाचल प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मुकुट मिथी, वहां के मुख्य सचिव तथा विभिन्न मंत्रालयों के सचिवों के साथ भी मैंने एक बैठक की जिसमें इस विषय पर विचार विमर्श किया गया कि राष्ट्रीय स्तर की एक कार्यशाला ईटानगर में रखी जाए जिसमें इस विषय पर विशेषज्ञों की राय ली जाए कि पूर्वोत्तर राज्यों की बोलियों को किस प्रकार समृद्ध किया जाए कि अध्ययन-अध्यापन के लिए वह उपयोगी हो सकें।

सिक्किम राज्य में नेपाली भाषा के लिए टैक्स्ट बुक बोर्ड बनाने के पहले दार्जिलिंग में जून, 2000 में तथा गंगतोक में जून 2001 कार्यशालाएं आयोजित की गयीं। इसी प्रकार बोडो भाषा में शब्दावली के निर्माण के कार्य को भी प्रारंभ किया गया है।

### शब्दावली आयोग : राजभाषा के लिए समन्वय

आयोग को हिंदी भाषा को संपर्क भाषा के रूप में स्थापित करने की कार्य-योजना से भी जोड़ा गया है जिसमें शब्दावली निर्माण का कार्य, उसका प्रकाशन तथा कम्प्यूटरीकृत राष्ट्रीय शब्दावली बैंक की स्थापना प्रमुख है।

हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने कई अन्य संस्थाओं की भी स्थापना की हैं, परंतु ये संस्थाएं अपने-अपने ढंग से कार्य कर रही हैं। इन संस्थाओं के बीच तालमेल का अत्यधिक अभाव है। एक-दूसरे के संसाधनों के प्रयोग तथा एक-दूसरे के क्रिया-कलापों में हिस्सेदारी करने से राष्ट्रीय स्तर पर भाषा संबंधी कई समस्याएं हल हो सकती हैं तथा संयुक्त प्रयास से कुछ ठोस योजनाएं भी प्रारंभ की जा सकती हैं। राजभाषा विभाग, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, विदेश मंत्रालय, सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय तथा शिक्षा विभाग के भाषा प्रभाग के बीच समन्वय स्थापित होना चाहिए। इसके लिए एक समन्वय समिति शिक्षा सचिव की अध्यक्षता में बनाई जानी चाहिए।

### उपसंहार :

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग ने अब तक के अपने कार्यों द्वारा बहुत बड़े भाषिक युगांतर का प्रयास किया है। अतः इस अनुभव तथा प्रयास को सफल बनाने के लिए इस संस्था की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखते हुए नित नई संभावनाओं की तलाश के साथ-साथ नई पहल भी करते रहना होगा। आज इस गौरवशाली संस्था के अस्तित्व पर नौकरशाही के जो काले बादल मड़ला रहे हैं वे तभी छंट सकेंगे और शब्दों का प्रकाश अज्ञानता के अंधकार को दूर करने में समर्थ हो सकेंगे।

सम्पर्क : डा./ राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव, 2 बी, ग्रीन पार्क, बल्लूपुर, देहरादून-248001

## ऐतिहासिक उपन्यासों में राष्ट्रबोध का यथार्थ

डा. शत्रुघ्न प्रसाद\*

हिन्दी के सवा सौ प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यासों के अध्ययन एवं अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक जीवन के यथार्थवादी उपन्यासों की तुलना में ऐतिहासिक उपन्यासों का राष्ट्रीय यथार्थ अधिक प्रभावी है। भारत के सम्पूर्ण जीवन का यथार्थपूर्ण और संघर्षशील चित्रण हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में हुआ है। भारत का इतिहास मुगल लेखन, अंग्रेज लेखन और वामपंथी लेखन से विवादास्पद हो गया है। परन्तु ऐतिहासिक उपन्यासों ने राष्ट्रीय जीवन के अनेक आयामी संघर्षों को यथार्थ की भूमि पर पूरी मार्मिकता के साथ प्रस्तुत किया है। फलतः इन उपन्यासों में इतिहास-बोध, राष्ट्र-बोध, संघर्ष-बोध एवं संस्कृति-बोध का सम्यक् स्वरूप प्रत्यक्ष हो गया है। इसीलिए वामपंथी समीक्षकों ने ऐतिहासिक उपन्यासों की योजनाबद्ध रूप से उपेक्षा की है। ये इन उपन्यासों की प्रखर राष्ट्रचेतना से भयभीत हो जाते हैं। ये अपने विकृत इतिहास बोध के आधार पर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने का प्रयत्न करते हैं। ये अपने उपन्यासों में या तो आर्यों को विदेशी दिखाने का प्रयत्न करते हैं या वैदिक धर्म एवं बौद्ध धर्म का टकराव दिखाते हैं या मार्क्सवाद के निकटस्थ लोकायतवाद की प्रतिष्ठा के लिए सचेष्ट हो जाते हैं। और ये भारत विभाजन पर आधारित उपन्यासों में झूठ को सच के रूप में पेश करते हैं एवं भारत विभाजन की सच्चाई को रखने का साहस नहीं कर पाते। जो भी हो, इनकी उपेक्षा के बाद भी हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास अपने श्रेष्ठ रचनाकारों यथा वृन्दावन लाल वर्मा, चतुर सेन शास्त्री, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रांगेय राघव, अमृतलाल नागर, जयशंकर प्रसाद, निराला, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, शिवसागर मिश्र, नरेन्द्र कोहली, जानकीवल्लभ शास्त्री, गुरुदत्त, भगवती शरण मिश्र, श्यामसुन्दर भट्ट, शत्रुघ्न प्रसाद, उमाशंकर आदि की रचनाओं द्वारा श्रेष्ठता को प्राप्त हुआ है।

यह भी उल्लेखनीय है कि सर्वश्री रांगेय राघव तथा विश्वम्भर नाथ उपाध्याय ने मार्क्सवाद की अभारतीय दृष्टि का परित्याग कर अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में प्रखर राष्ट्र बोध एवं संस्कृति बोध को व्यंजित किया है। रांगेय राघव ने तो 'चीवर' की भूमिका में यशपाल के लोकायतवाद की प्रतिष्ठा (दिव्या में) की आलोचना की है।

\*डॉ. शत्रुघ्न प्रसाद हिन्दी के आचार्य (सेवा-निवृत्त) तथा लेखक हैं।

विष्णु चन्द्र शर्मा ने 'चाणक्य की जयगाथा' में लोकायतवाद की मान्यता को स्थापित करने का मार्क्सवादी प्रयत्न किया है। साथ ही इन्हें चाणक्य के राष्ट्रबोध को भी अन्ततः अभिव्यक्त करना पड़ा है। वामपंथी डॉ. भगवान सिंह ने 'अपने-अपने राम' में रामकथा को अयोध्या के राज प्रासाद के षड्यन्त्र के रूप में दिखाया है। इस षड्यन्त्र के मूल वशिष्ठ, कैकेयी तथा मंधरा हैं। दूसरे पक्ष में विश्वामित्र, राम तथा लक्ष्मण हैं। वैसे वशिष्ठ तथा विश्वामित्र का ही व्यक्तिगत एवं वर्णगत द्वेष इस षड्यन्त्र का स्रोत है। तथापि भगवान सिंह ने राम के चरित्र को ऐतिहासिक मानकर उनके धीरोदात्त रूप को ही चित्रित किया है। यह भारतीय चेतना की विजय है।

वैसे तो हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास वैदिक काल के कथानक को लेकर आगे बढ़ते हैं। राम तथा कृष्ण से सम्बद्ध उपन्यासों में अवतारी चमत्कारों से मुक्त जनजीवन के लिए संघर्षशील धीरोदात्त तथा धीरललित चरित्रों का चित्रण ऐतिहासिक उपन्यास साहित्य की सफलता है। श्रमण चेतना के उपन्यासों ने भी ऐतिहासिक उपन्यासों को समृद्ध किया है। इनमें सांस्कृतिक द्वन्द अन्ततः समन्वित हुआ है। पहली सदी से सातवीं सदी तक के उपन्यास विभिन्न संघर्षों के साथ भारतीय जीवन मूल्यों को ही प्रस्तुत करते हैं। पर आठवीं से बीसवीं सदी तक के उपन्यास विदेशी आक्रमण के विभिन्न रूपों तथा स्वातंत्र्य संघर्ष के दीर्घकालीन जीवन को चित्रित करने में पूर्णतः सफल हैं। इन उपन्यासों में राष्ट्रबोध अपने प्रखर रूप में आकर हमें अनुप्राणित करते हैं। पिछले बारह सौ वर्षों का संघर्ष क्रमबद्ध रूप में जीवन्त हो उठा है। इसलिए हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की महत्ता मननीय है।

आठवीं सदी की प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाएं हैंसिन्धु पर नये मजहब के अनुयायी अरबों का आक्रमण, दाहिर की पराजय और दाहिर की कन्याओं का प्रतिशोध। इस आक्रमण से भारत के सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनीतिक जीवन में उथलपुथल आरम्भ हो जाती है। राजबहादुर सिंह ने इसी कथानक पर 'जब आकाश भी रो पड़ा' नामक एक लघु उपन्यास की रचना की है और स्पष्ट लिखा है कि बगदाद के खलीफा ने भारत से स्वर्ण, रत्न और रूपराशि को पाने और मजहब के प्रचार के लिए कासिम को हमलावर के रूप में भेजा। दाहिर राय युद्ध में विजयी नहीं हो सके। भारत की पराजय का प्रथम अध्याय अंकित हो गया। पर दाहिर की पुत्रियों सूर्य देवी और परिमल देवी का प्रसंग मार्मिक बन गया है।

नौवीं शताब्दी से सम्बद्ध 'धूनी का धुआँ' तथा 'जाग मछन्दर गोरख आया' क्रमशः रांगेय राघव और विश्वम्भर नाथ उपाध्याय की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इन दोनों उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में नाथ सम्प्रदाय की योग साधना का प्रभावी वर्णन करते हुए सिन्धु में विजयी अरबों के राज्यविस्तार के अवरोध और भारत की स्वाधीनता की रक्षा के निमित्त योगियों के हाथ शूल दे दिया है। यदि रांगेय राघव रचित 'धूनी का धुआँ' में गोरखनाथ की साधना, भारत जागरण तथा अरब आक्रमण

की चिन्ता है तो विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के 'जाग मछन्दर गोरख आया' में मत्स्येन्द्रनाथ की योगिनी कौल साधना के रोचक वर्णन के साथ गोरख नाथ की साधना और अरबों के बढ़ते आक्रमण से भारत की रक्षा की चिन्ता है। इनके नायक गोरखनाथ ने उदयपुर क्षेत्र में क्षत्रियों, कोल, भील, मीणासबको राष्ट्ररक्षा के लिए जागृत किया है। कहते हैं-अरब देश के यवनों ने सिन्धु देश जीत लिया। अब पंचनद, राजपुत्र स्थान, गुर्जर देश और फिर गंगा-यमुना के मध्यदेश की बारी है। चेत जा देश! अब भी अवसर है। मैं, मेरे योगी घर-घर से एक-एक पुत्र और भोजन माँगते हैं।' जागमछन्दर..... 3/31.

शालिग्राम मिश्र ने 'खजुराहो की नगरवधू' में दसवीं सदी के चन्देलवंशी राजा धंगदेव एवं महामंत्री प्रभास के शौर्य के साथ राष्ट्रबोध को प्रस्तुत किया है। सामंतपुत्र सोमेश्वर और कान्यकुब्ज की गुप्तचर रत्नमाला के प्रेम एवं समर्पण की कथा प्रधान हो गयी है। पुष्पपुर के राजा जयपाल के गजनी सुबुक्तगीन से निरंतर युद्ध और भारत की सुरक्षा की कथा इस कथानक में जुड़ गयी है। इस दृष्टि से यह उपन्यास शौर्य, मेधा, राष्ट्रबोध, प्रेम एवं निष्ठा की संस्कृति का उपन्यास बन गया है। सोमेश्वर उत्तर भारत के भ्रमण में तुरुष्कों के आक्रमण एवं अत्याचार को देख चुका था। अकेले जयपाल गजनी के सुबुक्तगीन से युद्ध कर रहे थे। अतः विचार आया कि सभी राजा जयपाल को सहयोग दें। भारत के राजाओं का संघ बने। धंग देव नेतृत्व करे। पर भारत के दुर्भाग्य से ऐसा संघ नहीं बन सका। जयपाल पराजित हुए। तुर्कों के लिए भारत का द्वार खुल गया।

इस उपन्यास में एक महात्मा ने उद्बोधन किया है-'इस समय देश को एक चन्द्रगुप्त की आवश्यकता है। पश्चिम के क्षितिज पर फिर काले बादल एकत्र हो रहे हैं; परन्तु हमारे देशवासी अपने-अपने घर में बैठे अपने आपको सुरक्षित समझ रहे हैं। हमारी वर्तमान उदासीनता अन्त में महँगी पड़ेगी क्योंकि तुरुष्क आततयी बड़े धर्मान्ध हैं।' खजुराहो की नगरवधू, 6/19.

सुप्रसिद्ध उपन्यासकार चतुरसेन ने ग्यारहवीं शदी से सम्बद्ध 'सोमनाथ' की भूमिका के बारे में लिखा है-"विभाजन का विभ्रात मेरी आँखों के आगे आया। दिल्ली में रहकर दिल्ली और लाहौर के सारे लाल-काले बादल मैंने अपनी आँखों से देखे, कानों से अनहोनी बातें सुनी। और विश्व के मानव इतिहास का सबसे बड़ा महाभिनिष्क्रमण देखा। यह ऐसी बात नहीं थी, जिसे मैं देखूँ और दरगुजार कर दूँ। ×××× दूसरे दिन अखबारों में पढ़ा कि जब दिल्ली में घंटाघर रोशनी में जगमग कर रहा था, लाहौर धाँय-धाँय जल रहा था। परन्तु इस साहित्यकार के आँसू किसने देखे, लाहौर की चिन्ताभ्रम में जैसे वे भी रत्न-मिल गए। ×××× और किसी अचिन्त्य शक्ति से ओतप्रोत हो मेरी कलम अपना काम करने लगी। ×× मैं अपने इस उपन्यास में ग्यारहवीं शताब्दी के उस बर्बर आक्रांता के उत्पातों में आरोपित करता चला गया।"

इस प्रकार चतुरसेन शास्त्री ने ग्यारहवीं शती के गजनवी के आक्रमण और विध्वंस में बीसवीं शती के मुस्लिम लीगी खूनी उपद्रव के दबाव में देश विभाजन का दर्द प्रेरक बन गया है। पर इस उपन्यास के इस दर्द की चर्चा नहीं हो सकी है। पर उपन्यासकार ने 'सोमनाथ' में भारत के सामाजिक-धार्मिक-राजनीतिक जीवन की सम्पूर्ण दुर्बलताओं और सबलताओं के वातावरण में गजनवी के आक्रमण एवं विध्वंस का मार्मिक वर्णन किया है। हर स्तर पर उस युग के यथार्थ से उत्पन्न त्रासदी के कारण यह उपन्यास मर्मबिधी बन गया है।

उपन्यासकार शास्त्री ने उस युग की दयनीय स्थिति के बारे में लिखा है—“अनेक पंथ, अनेक मत, अनेक विचार, अनेक अन्धविश्वासों ने उनके मन में घर कर रखा था। धर्म के नाम पर अधर्म उनके नित्य कृत्य हो चुके थे। इस प्रकार इस काल में भारत की एकता भंग हो चुकी थी। उनका जीवन बिखर चुका था।” अध्याय-17.

रघुवीर शरण मित्र ने पृथ्वीराज और गोरी के भीषण युद्ध, उत्तर भारत के राजाओं के आपसी वैमनस्य और गोरी के साथ अंतिम युद्ध में भारत की पराजय का मार्मिक वर्णन 'पहली हार' नाम उपन्यास में किया है। बारहवीं सदी का सांस्कृतिक एवं राजनीतिक यथार्थ इस उपन्यास में चित्रित हो गया है। एक ओर पृथ्वीराज का अनुपम शौर्य है तो अहंकार भी। संयोगिता के प्रति प्रेमभाव, अपहरण और जयचंद से युद्ध भी है। आपसी युद्ध में निरंतर शक्ति का क्षीण होना और मुहम्मद गोरी का निरंतर आक्रमण इस पहली हार का मुख्य कारण है।

इकबाल बहादुर देवसरे ने 'नालंदा' और शत्रुघ्न प्रसाद ने 'सिद्धियों के खंडहर' नामक उपन्यासों में बारहवीं सदी के मगध के पालवंशी बौद्ध राजा गोविन्द पालदेव की दुर्बलता और इख्तियार बिन बख्तियार खिलजी की आक्रामकता के संघर्ष में उदन्तपुरी और नालंदा विश्वविद्यालय के विध्वंस की करुण कथा प्रस्तुत की है। निर्बल सैनिक शक्ति एवं अप्रामाणिक तंत्र-शक्ति पर विश्वास की स्थिति में क्रूर खिलजी का आक्रमण होता है। देवसरेजी ने 'नालंदा' में वाराणसी से लेकर विक्रमशिला तक के क्षेत्र के जीवन का सजीव वर्णन किया है। शत्रुघ्न प्रसाद ने 'सिद्धियों के खंडहर' में ब्राह्मण-बौद्ध द्वन्द्व, सामाजिक विषमता तथा तंत्रसाधना की दुर्बलता दिखाते हुए कुमार महेन्द्र पाल के संघर्ष को प्रस्तुत किया है। पर पराजय हुई। उदन्तपुरी और फिर नालंदा महाविहार का विनाश हुआ। सारी सिद्धियाँ खंडहर हो गयीं। इसीलिए इसी में यह पीड़ा व्यक्त हुई है। “हम सम्प्रदाय, जाति और प्रदेश को भूल कर इस धरती माँ को इष्ट मान कर संगठित हो जाते ... एक हो जाते, अटूट हो जाते, अटल हो जाते ... तो यह विनाश नहीं हो जाता, विध्वंस नहीं होता।” अध्याय-48.

आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने चारुचन्द्रलेख में 13वीं सदी के तुर्क आक्रमण और उनकी क्रमिक विजय के रोमांचकारी परिवेश में अवन्तिका के राजा सातवाहन और चन्देलवंश की दौहित्री चन्द्रलेखा के विवाह के साथ दक्षिण मार्गी तंत्रसाधना या सैन्य

संगठन के द्वन्द्व का कलात्मक चित्रण किया है। एक ओर तेरहवीं सदी की वैविध्यमयी धर्मसाधना का जीवन्त वर्णन है। दूसरी ओर पारस्परिक संघर्ष का अंकन है और तीसरी ओर सीदी मौला, नागनाथ और अमोघवज्र की मानवीय चेतना है। इसी द्वन्द्व के कारण मध्य भारत का संघर्ष अवरूद्ध हो गया। अमोघवर्ष के अनुसार “समाज की जड़ में ही घुन लग गया है। अजयमेरू का अभेद्य दुर्ग ढह गया; कान्यकुब्ज का दलपंगुर सेना कपूर की भाँति हवा में मिल गयी, कालिंजर का मदगर्वितवाहिनी बिखर गयी और गौड़ कूलद्रुम की भाँति एक ही धक्के में भहरा गया। महानाश की विकराल लीला की बात सोचता हूँ तो हतबुद्धि हो रहा हूँ।” अध्याय-25.

डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने तेरहवीं सदी के संघर्षपूर्ण भारतीय जीवन पर 'कुहरे में युद्ध' और 'दिल्ली दूर है' यानी जुझौती खंड और दिल्ली खंड को एक ही उपन्यास के दो खंडों में प्रस्तुत किया है। आ. द्विवेदी और डॉ. शिव प्रसाद सिंहदोनों ने 13वीं सदी के संपूर्ण राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक संघर्ष और पराजय की पीड़ा को औपन्यासिक रूप प्रदान किया है। डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने 13वीं सदी के उत्तर एवं मध्य भारत के रोमांचकारी संघर्षपूर्ण इतिहास को कथानक के रूप में रखा है। महोबा के राजा परमालदेव के पुत्र तैलोक्यमल्ल देव और उनके सेनापति आनन्द बाशेक के उपेक्षित चरित्रों के माध्यम से इस संघर्ष की त्रासदी को प्रस्तुत किया है। 'कुहरे में युद्ध' में जुझौती के संघर्ष को आनन्द बाशेक के कुशल नेतृत्व में जीता गया है। पर थोड़ी असावधानी के कारण हजारों जन गुलाम बना लिये जाते हैं। आनन्द की वागदत्ता देविका का अपहरण हो जाता है। जीत हार में बदल जाती है। आनन्द बाशेक मुस्लिम रूप में दिल्ली आकर देविका की मुक्ति का प्रयास करता है। देश और जन पर तुर्क अत्याचार को रोकने की चेष्टा करता है। रजिया सुलताना से मिल कर भी प्रयास होता है। सीदीमौला भी मानवीय मूल्यों के आधार पर कोशिश करते हैं। पर दोनों असफल होते हैं। तुर्क-भारतीय समरसता का प्रयास असफल होने पर सीदीमौला सुलतान बलवन से दण्डित होते हैं। आनन्द बाशेक हताश होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यह राष्ट्रीय त्रासदी का महाकाव्यात्मक उपन्यास है। इसमें आनन्द बाशेक का चिन्तन है—“आर्यावत ही मेरी अस्मिता है, यही मेरी जननी है, यही मेरी गति है, यही मेरी मति है, यही जीवन का आदि और अंत है। यही मेरी प्रजा है। यही मेरी नमस्या मातृदेवी है।” अध्याय 8.

14वीं सदी का संघर्ष रांगेय राघव के उपन्यास 'लखिमा की आँखें' तथा शत्रुघ्न प्रसाद के 'तुंगभद्रा पर सूर्योदय' और 'कश्मीर की बेटी' में शब्दों में आकार पा गया है। यदि लखिमा की आँखें और कश्मीर की बेटी में संघर्ष पराजित है तो 'तुंगभद्रा पर सूर्योदय' में विजयस्वरूप विजयनगर साम्राज्य प्रतिष्ठित होता है।

रांगेय राघव ने 14वीं सदी के कविवर विद्यापति को केन्द्र में रख कर तुर्क शासन में पूर्वी भारत की उथल पुथल की पृष्ठभूमि में मिथिला के द्वन्द्व, संघर्ष तथा

आस्था को 'लखिमा की आँखें' में उपन्यस्त किया है। पूर्वी बंग के आस्थाहीन और निर्बल मन के बौद्ध तुर्क तलवार को देखकर इस्लाम को कबूल कर रहे थे। उड़ीसा में सहजयानी बौद्ध तुर्क जुल्म से अपने को बचाने में असमर्थ थे। गाँवों में शूद्र बनकर ब्राह्मणों के अहंकार द्वारा कुचले जा रहे थे। सामाजिक विषमता, सांस्कृतिक उथलपुथल और राजनीतिक परिवर्तन के युग में विद्यापति ने लोकभाषा में राधा-कृष्ण के प्रेम के गीत गाकर आस्था को टूटने नहीं दिया। ... रांगेय राघव ने उपन्यास में एक वंगीय ब्राह्मण के विद्यापति के गीतों के लिए मिथिला आने का वर्णन किया है। तुर्क जुल्म के बीच वह विसपी पहुँचता है। विद्यापति के प्रपौत्र से उन पदों की प्रतिलिपि कर लौटता है। पर तुर्कों ने उस प्रतिलिपि को कुचल दिया। योगी ने योगियों तथा नागा दल को एकत्र किया। संघर्ष के बाद वंगीय की रक्षा की। उपसंहार में रांगेय राघव बोल उठते हैं—'मेरे माधव! मेरा भारत कभी लुप्त तो नहीं हो जायगा। इस भरतभूमि की संतान कभी इतनी जघन्य तो नहीं हो जायगी कि अपनी आत्मा में से विश्वास ही खो बैठे! नहीं, मुझे ऐसा नहीं लगता।' शत्रुघ्न प्रसाद ने 'तुंगभद्रा पर सूर्योदय' में चौदहवीं सदी के दक्षिण भारतीय संघर्ष और आचार्य माधव (विद्यारण्य स्वामी) तथा हरिहर-बुक्क के नेतृत्व में विजय नगर की प्रतिष्ठा की इतिहास प्रसिद्ध गाथा को शब्दायित किया है। चौदहवीं सदी के तुगलककालीन भारत के सामाजिक सांस्कृतिक-राजनीतिक जीवन के संघर्षों का यह उपन्यास है। उपन्यास के परिवेश में सम्पूर्ण भारत की तत्कालीन राजनीति एवं संस्कृति आ जाती है। विवशता में मतान्तरित हरिहर और बुक्का आचार्य माधव से प्रेरणा पाकर स्वातंत्र्य-संघर्ष के नायक बन जाते हैं। तुंगभद्रातट पर स्वतंत्रता का सूर्य उदित होता है।

शत्रुघ्न प्रसाद ने नूतनतम उपन्यास 'कश्मीर की बेटी' में 14वीं सदी के कश्मीर के संघर्ष को चित्रित किया है। अफगानिस्तान का एक घुसपैठी शाहमीर बीस वर्षों में अपने छलकपट और कश्मीरी जीवन की दुर्बलताओं से लाभ उठाकर ताकतवर हो जाता है। सन् 1339 में रानी कोटा देवी को पराजित कर कश्मीर का सुलतान बन जाता है। कश्मीर की त्रासदी का रोमांचकारी अध्याय ही उपन्यास बन गया है।

पन्द्रहवीं सदी का उत्तर भारत भक्ति आन्दोलन के सामाजिक-सांस्कृतिक कलात्मक रूप से अनुप्राणित होता है। परिणामस्वरूप आचार्य रामानंद, कबीर, रैदास, आचार्य वल्लभ और सूरदास का भक्ति संगीत गूँज उठता है। तुर्कों से संघर्ष तो निरन्तरित है। इसीलिए सर्वश्री वृन्दावन लाल वर्मा, रांगेय राघव, अमृत लाल नागर, भगवती शरण मिश्र और शत्रुघ्न प्रसाद ने क्रमशः 'मृगनयनी', 'लोई का ताना', 'खंजननयन', 'देख कबीरा रोया' और 'सुनो भाई साधो' ऐसे श्रेष्ठ उपन्यासों की रचना की है। इनमें लोई का ताना, देख कबीरा रोया और सुनो भाई साधो नामक उपन्यास कबीर पर आधारित हैं तो नागर जी का 'खंजननयन' सूरदास पर।

वृन्दावनलाल वर्मा ने सुलतान सिकन्दर लोदी के समकालीन ग्वालियर के राजा मान सिंह तोमर और ग्रामीण गूजर कन्या (मृगनयनी) के प्रेमपूर्ण परिणय के साथ ग्वालियर के आर्थिक-सांस्कृतिक विकास एवं राजनीतिक संघर्ष में मानसिंह एवं मृगनयनी के शौर्य को दिखा कर ऐतिहासिक उपन्यास को समृद्ध किया है।

रांगेय राघव ने 'लोई का ताना' में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर के संबंध में लिखा है—'वह संस्कृति का पुर्नजागरण था, दीन जनता का पहला स्पष्ट सस्वर निनाद था।' और यह भी बताया है—'वह कबीर ही था जो उच्च वर्णों का विरोध करते समय यह नहीं भूला कि इस्लाम भी मुक्ति का रास्ता न था।' शत्रुघ्न प्रसाद ने 'सुनो भाई साधो' में दिखाया है कि रामानन्द के शिष्य कबीर ने निम्न वर्ण का दर्द सहा था, धर्मान्तरण के बाद भी जुलाहा का दर्द कम नहीं हो सका था। भारतीय धर्म और वहिरागत मजहब के द्वन्द्व का अहसास तीखा हो रहा था। मजहबी सियासत के जुल्म को सहना कष्टकारक था। गरीबी कारीगर समाज की सहयोगिनी हो गयी थी। क्षुब्ध और आकुल आत्मा ने राम मंत्र पा लिया। समता और समरसता के लिए संघर्ष का संकल्प कर लिया। कबीर ने न घर को छोड़ा और न करघे को। तुर्क हुकूमत और काशी के पंडित वर्ग के अहमू से टकराना उनके आत्मबल और आस्था का परिचायक है। उन्होंने काफिर की नयी व्याख्या कर हिन्दु-मुस्लिम भेद को मिटाने का प्रयत्न किया। पर तुर्कों ने नयी व्याख्या को स्वीकार नहीं किया। कट्टर पंथी सिकन्दर लोदी ने उन्हें गंगा में फेंक कर मार डालना चाहा। पर वे बच गये। जनजन के जयघोष से तुर्कशासन घबड़ा गया।

अमृतलाल नागर ने 'खंजननयन' में संघर्षों से आकुल युग की आस्था के जन्मान्ध कवि के जीवन को जीवन्त बना दिया है। सूरदास के साथ सिकन्दर लोदी और बाबर के अत्याचार से संत्रस्त भारत का जीवन साकार हो उठता है। सूरदास का जीवन मथुरा, वृन्दावन, ग्वालियर, आगरा, अयोध्या और वाराणसी तक फैला हुआ है। मुख्य रूप से ब्रजमंडल का आकुल जीवन राधा-कृष्ण की भक्ति चेतना से नयी आस्था प्राप्त करता है। सूर्यनाथ-सूरा-सूरज और अन्ततः सूरदास के जीवन का विकास क्रम अनेक उथल-पुथल के मध्य स्पष्ट होता है। नागरजी ने ब्रज अंचल के जीवन एवं संस्कृति को आंतरिक स्पर्श द्वारा प्रत्यक्ष कर दिया है।

सोलहवीं सदी के संघर्ष हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित हो कर हमें अनुप्राणित कर रहे हैं। वाल्मीकि त्रिपाठी ने 'जय-विजय' और शत्रुघ्न प्रसाद ने 'हेमचन्द्र विक्रमादित्य' में इतिहास द्वारा उपेक्षित हेमू के व्यक्तित्व एवं संघर्ष को वर्णित किया है। अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' में तत्कालीन विषय परिस्थितियों के मध्य तुलसीदास के जीवन को प्रस्तुत किया है। रामनाथ नीखरा ने कविवर केशव की शिष्या और ओरछा के कुमार इन्द्रजीत की पत्नी प्रवीण राय के निष्ठापूर्ण चरित्र को 'प्रवीण राय' में चित्रित करते हुए अकबर की ऐयाशी को भी समझने का अवसर



प्रदान किया है। श्यामसुन्दर भट्ट ने राणाप्रताप के अप्रतिम स्वातंत्र्य प्रेम तथा अथक संघर्ष को अपने उपन्यास 'चेतक घोड़े का सवार' में दिखाया है। मेवाड़ का संघर्षनायक इस उपन्यास में जीवंत हो गया है।

अमृतलाल नागर ने 'मानस का हंस' में तुलसी द्वारा अल्पकालीन राज्यपरिवर्तन पर हर्ष प्रकट किया है "हरिद्वार लौटने पर मालूम हुआ कि लोदियों के पठान तथा हिन्दू सैनिकों ने मिल कर अपने सेनापति हेमू बक्काल को दिल्लीश्वर की गद्दी पर आसीन कर दिया था। पृथ्वीराज चौहान के उपरांत तीन सौ वर्ष बाद दिल्ली पहली बार स्वतंत्र हुई थी। (अध्याय-17)

सत्रहवीं सदी ने मुगल शाहंशाह औरंगजेब के तेज को देखा तो दूसरी ओर महाराष्ट्र में शिवाजी और पंजाब में गुरु गोविंद सिंह की अपराजेय संघर्षशीलता को। उजड़े मेवाड़ में प्रताप पुत्र अमर सिंह किसी प्रकार स्वाधीनता को बचा रहे थे तो महाराष्ट्र में शिवापुत्र प्राण देकर भी नयी स्वाधीनता की रक्षा करने में तत्पर थे। उत्तर तथा दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन की निर्गुण-सगुण धाराएँ स्वाधीनताकी आकांक्षा को पोषित कर रही थी। यादवचन्द्र जैन, चतुरसेन शास्त्री और भगवती शरण मिश्र ने क्रमशः 'शिवनेर केसरी', 'सह्याद्रि की चट्टानें' और 'पहला सूरज' में शिवाजी के संघर्ष और विजय को थोड़े-थोड़े भिन्न ढंग से प्रस्तुत किया है। चतुरसेन शास्त्री ने बताया है "15वीं-16वीं शताब्दी के लोकप्रिय सन्तों ने जहाँ जन्म की श्रेष्ठता की अपेक्षा चरित्र की पवित्रता को अधिक महत्त्व दिया है और यही कारण था कि शिवाजी को 17वीं शताब्दी में महाराष्ट्र की राजनैतिक एकता स्थापित करने में विशेष कठिनाई नहीं हुई।"

मनहर चौहान ने शिवाजी की मृत्यु के बाद शम्भाजी के मुगल शहंशाह से निर्भीक संघर्ष और बलिदान की कथा को प्रभावशाली शैली में 'सूर्य का रक्त' में प्रस्तुत किया है। भगवती शरण मिश्र ने 'गोविंद गाथा' में गुरु गोविंद सिंह के सम्पूर्ण जीवन को निरन्तर संघर्षों के द्वारा दिखाया है। गुरु गोविंद सिंह संत, सैनिक तथा कवि तीनों थे। उनके तीनों ही रूप इस उपन्यास में वर्णित हुए हैं। लेखक ने दसवें गुरु के राष्ट्रबोध को रखा है "एक अन्यायी, अत्याचारी और विदेशी शासन, जिसका न हमारे धर्म में विश्वास है, न हमारी संस्कृति में, पूरे राष्ट्र को पद दलित कर रहा है। ..... राष्ट्रव्यापी अत्याचार और अन्याय की समाप्ति के लिए कटिबद्ध हो जाए" अध्याय-31

इस प्रकार आठवीं सदी से लेकर सत्रहवीं सदी तक के राष्ट्रीय संघर्ष को पूरी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय जीवन का यथार्थ स्पष्ट हो जाता है। यह संघर्ष बीसवीं शती तक नये रूप में आता है। आगे हम इस पर विचार करेंगे।

## गुरु गोबिन्द सिंह की आत्मकथा : विचित्र नाटक

डॉ. महीप सिंह\*

भारतीय साहित्य में आत्मकथा लिखने की कोई पुष्ट परम्परा नहीं है। हिन्दी में जैन कवि बनारसी दास (सन् 1586-1644) द्वारा रचित "अर्ध कथानक" को हिंदी की सर्वप्रथम आत्मकथा माना जाता है। प्राचीन साहित्य में आत्म-कथा सम्बन्धी सामग्री तो मिल जाती है किन्तु इस देश में सुनिश्चित और व्यवस्थित आत्म-कथाओं के लिखे जाने का विशेष प्रचलन नहीं रहा। मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में हमें दूसरी आत्म-कथात्मक कृति गुरु गोबिन्द सिंह रचित विचित्र नाटक ही दिखाई देती है, जिसमें उनके जीवन के कुल 42 वर्षों की आयु में से 32 वर्ष तक की आयु की कुछ घटनाओं एवं प्रसंगों का चित्रण मिलता है।

गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा रचित दशम ग्रंथ लगभग 1400 मुद्रित पृष्ठों का विशाल ग्रंथ है। इस ग्रंथ में लगभग 700 पृष्ठों में अनेक अवतार कथाओं का वर्णन है जिनमें चंडी चरित्र, विष्णु के चौबीस अवतार, ब्रह्मा के सात और रुद्र के दो अवतार सम्मिलित हैं। 700 पृष्ठों की इस वृहदकाय सामग्री को विचित्र नाटका अभिधान दिया गया है और सभी रचनाओं के प्रकरणांत में इति श्री विचित्र नाटक ग्रंथ 'धिआई समापन सुभमस्तु' लिखा गया है। परन्तु जहाँ अन्य सभी अवतार कथाओं को अपने स्वयं के नाम प्राप्त हैं, जैसे इति स्त्री विचित्र नाटक ग्रंथ कृसनावतारे अथवा इतिस्री विचित्र नाटक के चंडी चरित्रे आदि, उस प्रकारकोई स्वतंत्र अभिधान इस विशाल ग्रंथ में गुरु गोबिन्द सिंह के स्वयं के आत्म-कथात्मक अंश के लिए नहीं दिया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि दशम ग्रंथ के अध्ययन में जहाँ अन्य अवतार कथाओं को चंडी चरित्र, रामावतार, कृष्णावतार अथवा रूद्रावतार नाम से जाना जाता है वहाँ केवल गुरु गोबिन्द सिंह के आत्म-कथा भाग को ही विचित्र 'बचित्र नाटक' कहने की परम्परा बन गयी है।

### नाम की सार्थकता

विचित्र नाटक रूढ़ अर्थों में कोई नाट्य कृति नहीं है परन्तु अपने व्यापक और प्रतीकात्मक अर्थों में यह नाम बहुत सार्थक है और रचयिता की अन्तर्दृष्टि का परिचय

\*डॉ. महीप सिंह वरिष्ठ साहित्यकार हैं।

देता है। आखिर यह सृष्टि है क्या ? यह सृष्टि कर्ता का एक विशाल परन्तु अद्भुत विचित्र नाटक ही तो है। एक कुशल निर्देशक की भांति वह सृष्टि के रंगमंच पर अनेक परस्पर विरोधी तत्वों को प्रस्तुत करता है और इस प्रकार सत् और असत् तत्वों के बीच वह संघर्ष उत्पन्न करता है। कुछ समय के लिए असत् तत्व अधिक शक्तिशाली होकर सत् तत्वों को दबा देते हैं। फिर किसी महापुरुष या अवतार का जन्म होता है जो सत् तत्वों को संगठित करके असत् तत्वों से युद्ध करता है और उनका विनाश करके 'धर्म' की स्थापना करता है।

संसार का यह चक्र 'काल पुरुष' के लिए तो एक नाटक ही है। 'चंडी चरित्र' (उक्ति बिलास) में गुरु गोविंद सिंह ने इसे उसका 'तमाशा' कहा है, जिसका वह निर्माता भी है और दर्शक भी-

आदि अपार अलेख अनंत अभेष अलक्ख अनासा ॥  
के सिव सकत दए श्रुति चार रजो तम सत तिहू पुर बासा ॥  
दिउस निसा ससि सूर के दीप सु सृष्टि रची पंच तत प्रकासा ॥  
बैर बढाइ लराइ सुरासुर आपह देखत बैठ तमासा ॥

(द. ग्र. पृष्ठ 74)

इस सृष्टि रूपी नाटक का सूत्रधार अपनी इच्छानुसार पता नहीं कितनों को मिलाता है, उनका पुनर्निर्माण करता है उन्हें फिर नष्ट करता है, फिर बनाता है। काल की क्रिया को आज तक कोई नहीं पहचान सका। बहुतों पर यह सब कुछ बीत चुका है और बहुतों पर भविष्य में बीतेगा---

कई मेट डारे उसारे बनाए ।  
उपारे गढे फेर मेटे उपाए ॥  
क्रिया काल जू की किनू न पछानी ॥  
धन्यो पे बिहे है धन्यो पे बिहानी ॥26॥

(विचित्र नाटक, प्रथम अध्याय)

गुरु गोविंद सिंह की दृष्टि में इस नाटक की सबसे बड़ी विचित्रता या विसंगति यह है कि 'काल पुरुष' जिस व्यक्ति को असत् तत्वों के विनाश के लिए अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजता है, कभी-कभी वही व्यक्ति मार्ग-च्युत होकर विपरीत दिशा में काम करने लगता है। तब काल पुरुष उसे भी दंडित करता है। विचित्र नाटक के छोटे अध्याय में दानवों, देवताओं, अवतारों आदि का उल्लेख करता हुआ कवि कहता है कि जब काल पुरुष ने मुझे संसार में जाकर जन्म लेने की आज्ञा दी तो साथ में यह भी कहा कि जिन व्यक्तियों को प्रभु का साक्ष्य बनाकर भेजा गया था, वे संसार में स्वयं भगवान बन बैठे। उन्हें ईश्वर का संदेश तो विस्मृत हो गया, मात्र अपनी शोभा की ही वे चिंता करने लगे।

हे प्रभु साख नमित ठहराए ॥  
तै हिआं आई प्रभु कहवाए ॥  
ताकी बात बिसर जाती भी ॥  
अपनी अपनी परत सोभ भी ॥

(विचित्र नाटक, छठा अध्याय)

सृष्टि का यह क्रम सत् और असत् तत्वों का निरन्तर संघर्ष, सत् की रक्षा हेतु व्यक्तियों का जन्म, 'असत्' का विनाश, उस विनाश में से एक नये प्रकार के असत् का बीजारोपण, फिर उसकी उन्नति, फिर संघर्ष, फिर विनाश, फिर जन्म-यह विचित्र नाटक निरन्तर ही चलता रहता है। यह सम्पूर्ण क्रम तो विचित्र है ही, स्वयं गुरु गोविंद सिंह का जन्म और जीवन भी इस विशाल विचित्रता भरे नाटक का ही एक दृश्य है।

### विधागत स्वरूप

विचित्र नाटक को 'चरित काव्य' की कोटि में रखा जा सकता है। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में चरित्र काव्यों की एक पुष्ट परम्परा है। सामान्यतः चरित्र काव्य की शैली जीवन चरित्र की शैली होती है। उसमें प्रारम्भ में या तो ऐतिहासिक ढंग से नायक के पूर्वज, माता-पिता और वंश का वर्णन रहता है या पौराणिक ढंग से उसके पूर्व जन्मों का वृत्तान्त तथा उसके जन्म के कारणों का वर्णन होता है अथवा कथा-काव्य की तरह उसके माता-पिता, देश और नगर का वर्णन रहता है। उसमें चरित्र नायक के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक की अथवा कई जन्मों की कथा होती है। चरित्र काव्य प्रायः उद्देश्य प्रधान होता है। यह उद्देश्य कभी धार्मिक, कभी प्रशस्तिमूलक और कभी लोक कल्याणकारी होता है।

विचित्र नाटक पूरी तरह इसी परम्परा का एक चरित काव्य नहीं है। यह 'आत्म-चरित काव्य' है। काव्य का रचयता स्वयं काव्य का नायक भी है। शैली की दृष्टि से इसे पौराणिक ऐतिहासिक शैली का संयुक्त रूप कहा जा सकता है। पौराणिक परम्परा के अनुसार नायक के पूर्वजन्म का वृत्तान्त तथा उसके जन्म के कारणों का इस काव्य में विशद वर्णन है। ऐतिहासिक दृष्टि से नायक के वर्तमान जीवन के एक भाग को पूरी अन्तर्ग्रस्तता और वस्तुपरकता से चित्रित किया गया है। उद्देश्य की दृष्टि से यह निश्चित ही लोक कल्याणकारी काव्य है क्योंकि स्वयं कवि नायक ने इस रचना में इस प्रकार की भावाभिव्यक्ति अनेक स्थानों पर की है।

हम इह काज जगत मो आए ॥  
धरम हेत गुरु देव पठाए ॥  
जहां तहां तुम धरम बिथारो ॥  
दुस्ट दोखियन पकरि पछारो ॥

याही काज धरा हम जनमं ॥  
समझ लैहु साधु सभ मनमं ॥  
धरम चलावन संत उबारन ॥  
दुस्ट सभन को मूल उपारन ॥43॥

(छठा अध्याय)

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस रचना को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. स्तुति भाग-(प्रथम अध्याय-101 छंद)
2. सृष्टि की उत्पत्ति और स्ववंश परम्परा की पुराण शैलीबद्ध पृष्ठभूमि-(द्वितीय अध्याय से षष्ठ अध्याय तक-178 छंद)
3. स्वजीवन का इतिहास-शैली बद्ध वर्णन-(सप्तम अध्याय से चतुर्दश अध्याय तक-162 छंद)

### स्तुति भागरचियता की ईश भावना

‘विचित्र नाटक’ का स्तुतिपरक अंश सम्पूर्ण रचना के आकार की दृष्टि से बड़े कलेवर को घेरे हुए है। प्रथम अध्याय में 101 छंद विशुद्ध स्तुतिपरक हैं जो संपूर्ण रचना के पांचवें भाग से अधिक हैं। ग्रंथ के पहले दोहे में कवि ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ‘श्रीखड्ग’ को नमस्कार करता है---

नमस्कार सो खड्ग को करो सु हितु चितु लाइ ॥  
पूरन करो गिरंथ इहु, तुम मुहि करहु सहाय ॥

गुरु गोबिंद सिंह ने अपने ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए श्री खड्ग को नमन किया है। विचित्र नाटक और समग्र रूप से दशम ग्रंथ में वीरभाव-मूलक ईश भावना बड़े व्यापक रूप से विद्यमान है। यही वह बिन्दु है जो हमें कवि की रचना दृष्टि को समझने में हमारी सर्वाधिक सहायता करता है।

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि साधारणतः सभी विचारों और रसों के कवि अपने ग्रंथ की निर्विघ्नपूर्ति के लिए ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की स्तुति करते आये हैं और वे वीणापाणि से इस प्रकार का वरदान माँगते रहे हैं, किन्तु गुरु गोबिंद सिंह इस कार्य के लिए भी खड़ा, खड़ापणि या भगवती का स्मरण करते हैं।

स्तुति के इन 101 छंदों में अधिकांश में इष्ट के वीर रूप की ही अभ्यर्थना की गयी है

निरंकार नित्यं निरूपं निबाणं ॥  
कलं कारणेयं नमो खड्ग पाणं ॥3॥

करं बाम-चापयं कृपाणं करालं ॥  
महातेज तेजं बिराजे विसालं ॥  
महादाढ़ सुं सोहं अपारं ॥  
जिने चर्वियं जीव जग्यं हजारं ॥

स्तुति खंड के अंतिम दस सवैया छंदों की ध्वनि पूर्व वर्णित छंदो-भुजंग प्रयात, सावल और नराज छंदों में वर्णित स्तुति की अपेक्षा अधिक विनय और निवेदन भरी है

मेरू करों तृणते मोहि जाहि गरीब-निवाज न दूसर तोसों ॥  
भूल छिमों हमरी प्रभु आपन, भूलनहार कहूं कोउ मोसों ॥  
सेव करी तुमरी तिनके संभ ही गृह देखियत द्रव्य भरोसों ॥  
या कल में सब काल कृपाण के, भारी भुजान की भारी भरोसों ॥

### सृष्टि की उत्पत्ति और स्ववंश परम्परा

विचित्र नाटक का यह भाग सबसे अधिक विवादास्पद, चौंकाने वाला और मिथकीय तत्वों से भरा है, इसीलिए गंभीर विश्लेषण एवं व्याख्या की अपेक्षा करता है। इस रचना के स्तुतिपरक भाग को छोड़कर शेष दोनो भाग कथात्मक हैं एक में सृष्टि की उत्पत्ति और सोढी वंश की पूर्व परम्परा का वर्णन है और दूसरे में गुरु गोबिंद सिंह के जीवन-जन्म लेकर 32 वर्ष तक की आयु तक के कार्यों घटनाओं आदि का वर्णन है।

विचित्र नाटक इस दृष्टि से भी भारतीय इतिहास की उन अनोखी रचनाओं में हैं जिनमें पुराण-तत्व और समकालीन जीवन इस तरह सृजित हुए हैं। पुराण क्या है? ऋषि सायण ने परिभाषा करते हुए कहा है कि पुराण वह है जो विश्व सृष्टि की आदिम दशा का वर्णन करता है। वायु पुराण ने पुराण शब्द की व्युत्पत्ति ‘पुरा’ प्राचीन काल में पहले एवं ‘अन’ सांस लेना या जीना से की है, अतः इसके अनुसार ‘पुराण’ का शाब्दिक अर्थ है--जो अतीत में जीवित है या जो प्राचीन काल में सांस लेता है।

विचित्र नाटक के इस भाग को उस ढंग से इतिहास नहीं कहा जा सकता, जिस अर्थ में हम आज इतिहास शब्द को ग्रहण करते हैं। प्राचीन साहित्य में भी इतिहास पुराण एक सामासिक शब्द के रूप में व्यवहृत होने पर भी अलग-अलग अर्थ देते थे। पुराण रचना में रचनाकार अपनी कल्पना शक्ति का पूरा उपयोग करता है।

### आत्मकथा

विचित्र नाटक के तीसरे भाग (सातवें अध्याय से चौदहवें अध्याय तक) को आधुनिक अर्थों में आत्म-कथा कहा जा सकता है। इसमें वर्णित सभी घटनाएं

तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों के सर्वथा अनुकूल हैं और कवि ने इन घटनाओं एवं चरित्रों के वर्णन में काल्पनिक आख्यानों का आश्रय न लेते हुए तथ्यों का वस्तुपरक चित्रण किया है। विचित्र नाटक के इस अंश में वर्णित सभी घटनाएं एवं पात्र इतिहास सम्मत हैं। कवि के माता-पिता का पूर्वी भारत की यात्रा पर जाना, पटना में जन्म लेना, फिर पंजाब वापस आना, पिता का बलिदान, पहाड़ी राजाओं और मुगल सेनाओं से युद्ध, औरंगजेब का क्रुद्ध होकर अपने पुत्र मुअज्जम को पंजाब भेजना आदि कवि के जीवन में घटित ऐसी घटनाएं हैं जिन्हें सरलतापूर्वक इतिहास की कसौटी पर कसा जा सकता है। चौदहवें संक्षिप्त अध्याय (11 छंदों) में अकाल पुरुष के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन तथा भावी लेखन योजनाओं का संकेत है।

जैसा कि कहा जा चुका है--विचित्र नाटक को आत्म चरित्र-काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। गुरु गोविंद सिंह से पूर्व चरित्र-काव्यलेखन की परम्परा का सूत्रपात हो चुका था और उनमें पूर्व जन्मों के वृत्तांत तथा मुख्य चरित्र के जन्म के कारणों का वर्णन भी होता था। ये चरित्र-काव्य किसी महत्त्वपूर्ण चरित्र को आधार बनाकर कवियों द्वारा लिखे जाते थे। आत्म-चरित्र काव्य के उदाहरण अपने साहित्य में नहीं हैं। इसलिए विचित्र नाटक को साहित्य की एक सर्वथा नयी विधा का प्रणेता काव्य और गुरु गोविंद सिंह को ऐसी विधा का मौलिक सर्जक कलाकार माना जा सकता है।

## हिन्दी मेला, सूरीनाम में

नरेन्द्र कोहली\*

सूरीनाम के राष्ट्रपति ने सातवें विश्व हिंदी सम्मेलन में आए सारे प्रतिनिधियों के लिए एक स्वागत समारोह का आयोजन किया था। उनका निमंत्रणपत्र डच भाषा में था, इसलिए मुझे यह भी ठीक से ज्ञात नहीं था कि उन्होंने क्या लिखा है। मुझे नहीं लगता कि हममें से किसी ने भी यह आपत्ति उठाई हो कि हमें ऐसी भाषा में निमंत्रित करने का क्या अर्थ है, जिसे हम समझते नहीं हैं किसी ने उसे अपने मानापमान का प्रश्न नहीं बनाया। मैं यह भी नहीं जानता कि उन्हें हमें हमारी भाषा में निमंत्रित करना चाहिए था या हमें निमंत्रित होने के लिए उनकी भाषा सीखनी चाहिए थी। पर हम इस बात के अभ्यस्त हैं कि सब लोग अपनी अपनी भाषा में काम करते हैं। एक हम ही हैं कि जो एक विदेशी भाषा से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। किंतु सूरीनाम के निवासियों की भाषा भी डच नहीं है। वह उनके प्रशासन की भाषा है। वहां के भारतवंशी लोग अभी तक एक प्रकार की भोजपुरी बोल रहे हैं, जिसे वे सरनामी हिंदी कहते हैं। किंतु अफरीकी, मलय और चीनी मूल के लोग, परस्पर किस भाषा में बोलते हैं-यह मुझे ज्ञात नहीं हो सका। वहां का कम पढ़ा लिखा, या अनपढ़ व्यक्ति भी डच भाषा नहीं ही जानता होगा।

तोरारिका होटल की लॉबी में खड़ा मैं इस प्रतीक्षा में था कि पता चले कि मुझे कहां और कैसे जाना है। मेरे साथी प्रायः लुप्त थे। जाने कहां चले गए थे।..... संयोग ही था कि जिस समय हमें जाना था, जब बसें बाहर तैयार खड़ी थी, उसी समय बिजली चली गई थी। हमने समझा कि होटल की बिजली चली गई है; किंतु वास्तविकता उससे भी बड़ी थी। राष्ट्रपति ने जिस भवन में हमें आमंत्रित किया था, वहां भी बिजली नहीं थी। अतः हमारा जाना अनिश्चित हो गया था।.... और फिर अचानक ही उनके प्रॉटॉकोल के लोग आए। गाड़ियां लग गईं और जाने वाले लोग चले गए। मैं खड़ा का खड़ा रह गया। समझ में नहीं आया कि क्या करूं। या तो बसें किसी गलत जगह पर खड़ी थीं, या मैं अप्रासंगिक स्थान पर खड़ा था। कुछ लोग यह भी कह रहे थे कि वह स्थान इतना पास था कि पैदल भी जाया जा सकता था, इसलिए अनेक लोग पैदल ही निकल गए थे। बिजली के कुछ देर के लिए गुल हो जाने से काफी विभ्रम फैल रहा था। ऐसे में मेरी पहली प्रतिक्रिया यही थी कि चलो छोड़ो, मैं

\* नरेन्द्र कोहली हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार एवं विचारक हैं।

नहीं जाता। राष्ट्रपति को कौन पता लग जाएगा कि मैंने उनके निमंत्रण का तिरस्कार कर उनका अपमान किया है। उस भीड़ में मेरी अनुपस्थिति से किसको क्या फर्क पड़ेगा।.... किंतु जाना एक प्रकार से अनिवार्य था क्योंकि आज होटल में रात्रि भोजन की व्यवस्था नहीं थी। और मैं उन लोगों में से नहीं था, जो स्वयं अपने बल पर पारामारिबो जैसे अपरिचित नगर में भोजन के लिए कोई उपयुक्त ढाबा खोज सकता।

सांस्कृतिक संबंध परिषद् के उपमहानिदेशक प्रदीप सिंह पास से गुजरे, “चल नहीं रहे?”

“इसी प्रतीक्षा में हूँ कि कोई ले चले।”

“अरे तो आइए न। कभी हमें भी आपकी सेवा का सौभाग्य मिले।”

प्रदीप सिंह अधिकारी आदमी थे, पर अपनी अफसरी भुला कर बात करते थे, तो अच्छे लगते थे। “चलिए।”

मुझे आश्चर्य ही हुआ कि उनकी गाड़ी में कोई और नहीं था। पर उससे अधिक आश्चर्य राष्ट्रपति के प्रासाद में प्रवेश कर हुआ। एक भवन के सामने के वरांडे में लोग जमा थे। अलिफलैला के किसी विचित्र टापु के लोगों के समान वहां भी अनेक देशों प्रदेशों, शक्तों और वेशभूषाओं के लोग थे। स्थान कम था और लोग बहुत अधिक थे। इसका अर्थ था कि सम्मेलन में आए हुए प्रतिनिधियों के अतिरिक्त भी बहुत सारे लोग आमंत्रित थे। किसी बहुत भीड़भाड़ वाली शादी का सा समां था, जहां अपनी चादर को देखे बिना बहुत सारे लोगों को पैर फैलाने के लिए आमंत्रित कर लिया गया था। शाम से वर्षा नहीं हुई थी, इसीलिए उमस भी बहुत बढ़ गई थी। सांस तक लेने में कठिनाई थी। लोग पी रहे थे और बैरे उन्हें पिला रहे थे। मैंने जूस मान कर एक गिलास उठाया, घूंट नहीं भरा, चुस्की ही ली, ताकी संभ्रांत समाज की आंखों में खटकू नहीं। पर पता नहीं वह किस अपरिचित फल का रस था। स्वाद अच्छा नहीं लगा। इसलिए गिलास वापस बैरे की ट्रे में टिका दिया। जब मैं लगभग तय कर चुका था कि मैं यहां से बाहर निकल जाऊंगा, चाहे बाहर पार्किंग में खड़े ड्राइवरों के साथ ही क्यों न खड़ा होना पड़े। इन संभ्रांत लोगों के मध्य, सांस घुट जाए, उससे अच्छा है कि ड्राइवरों के मध्य खड़े होकर अपने हिस्से की ऑक्सीजन का आनन्द लिया जाय।

पर तभी हॉल के कपाट खुले और लोग पंक्तिबद्ध होकर भीतर जाने लगे। मैंने झांकर देखा: वहां भी भोजन का कोई प्रबंध दिखाई नहीं दे रहा था। पंक्ति में कुछ आगे बढ़े तो पता चला कि सूरीनाम के राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति अपनी अपनी पत्नियों के साथ खड़े होकर अपने अतिथियों का अभिवादन स्वीकार कर रहे हैं। उनसे हाथ मिला कर हमें दूसरी ओर के द्वार से बाहर निकल जाना था। हाथ मिला और नमस्कार कर बाहर मैदान में आए तो सांस लेने की सुविधा तो हो गई किंतु वहां भी खाने को कुछ नहीं था। मैं प्रायः भोजन से पहले दिया जाने वाला चना कुरमरा नहीं खाता। उससे भूख खराब होती है। किंतु जहां केवल पीने को हो वहां व्यक्ति कितना शर्बत पी सकता है, वह भी जब प्रत्येक क्षण आप स्मरण रखें कि आप मधुमेह के रोगी

हैं। अंततः मछली का पकोड़ा उठा लिया। उषा राजे सक्सेना बताने आई कि वह शाक नहीं था, मछली थी। मैंने उन्हें आश्वस्त किया कि मैं उसे मछली मान कर ही खा रहा हूँ। अनिल जोशी भूल से उसे खाने वाले थे, तो मैंने उन्हें टोक दिया। वे शाकाहारी हैं, अतः उन्हें उपयुक्त स्थान ढूँढ कर उसे थूकना पड़ा।

राष्ट्रपति डच में अपनी भाषण करते रहे और हम भोजन की खोज में जुटे रहे। पता चला कि वहां भोजन नहीं है। वहां तो बस पीना ही पीना है और स्वागत समारोहों में पीना ही होता है। मुझे भूख लग रही थी, इसलिए कुछ साथियों को समेटा और बस में जा बैठे। हमारी बस का चालक भारतवंशी था। भला लड़का था। बहुत चाहा कि उसे उसके नाम से बुलाऊं; किंतु उसका नाम था-बेटा! यह शब्द मुझे संबंध ही लगता है, नाम नहीं। अतः कभी नाम से बुलाया नहीं।

हम चले ही थे कि पता चला कि आगे रास्ता रुका हुआ था। कुछ लोग ऊंचे स्वर में चिल्ला भी रहे थे। आश्चर्य हुआ, जहां अभी तक एक एक अतिथि को गाड़ी से उतार कर सम्मानपूर्वक अंदर पहुंचाया जा रहा था। जहां शिष्टाचार पर इतना बल था, वहां कौन चिल्लाने का साहस कर रहा था।.... पता चला कि चिल्लाने वाले सूरीनामी सैनिक नहीं, भारतीय लेखक ही थे। कमलेश्वर रुष्ट थे और वे ही अपना आक्रोश व्यक्त करने के साथ साथ कुछ घोषणाएं कर रहे थे। बस को रुकना पड़ा और उसके रुकते ही बालशौरी रेड्डी सरक गए। वे समाचार लाए कि कमलेश्वर का अपमान हुआ है। वे रुष्ट हैं और कल ही चले जाने की घमकी दे रहे हैं। कैसा अपमान? तो पता चला कि सरकारी तौर पर उन्हें पांच जून को पारामारिबो पहुंचना था; किंतु वे तीन को ही आ गए थे, अतः होटल उनसे दो दिन का किराया मांग रहा था।... पैसे की बात अवश्य थी। वे ऊंचे स्वर में चिल्ला कर कह रहे थे कि ऐसा नहीं है कि वे पैसा नहीं दे सकते। वे कमाते हैं। और इतने समर्थ हैं कि सरकारी शिष्ट मंडल के सारे सदस्यों के लिए विमान का टिकट खरीद सकते हैं।...

यह समाचार सुनकर चित्रा मुद्गल भी बस से उतर गई। वे हमारी नेतृ थीं। नेतृत्व का अभ्यास है उन्हें। उन्हें आवश्यक लगा कि कमलेश्वर को मनाया जाए।...

मैं अपने स्थान पर बैठा सोचता रह गया कि बालशौरी रेड्डी, चित्रा मुद्गल और देवेन्द्र दीपकये सारे लोग बस से उतर बस को और विलांबित क्यों कर रहे हैं। हमें सांस्कृतिक केन्द्र में भोजन के लिए जाना था। पहले ही इतनी देर हो चुकी थी, और देर हो गई तो भोजन का समय बीत जाएगा?.... वैसे भी दो दिन का किराया मांगा जाना आर्थिक व्यवस्था का मामला था, मान अपमान का नहीं। वह नियमों के अधीन सुलझाया जा सकता था। फिर भी यदि किसी को लगता है कि उससे पैसों का मांगा जाना उसका अपमान है, तो वे उसकी शिकायत अपने संयोजकों से कर सकते हैं। वहां विदेश मंत्रालय के उपसचिव, संयुक्त सचिव, सचिव और स्वयं विदेश राज्य

मंत्री-दिग्विजय सिंह, सब उपस्थित ही नहीं, उपलब्ध भी थे। कोई भी उनसे मिल सकता था और शिकायत कर सकता था। हम सभी लोग उनसे दिन में कई कई बार मिल रहे थे और संवाद भी करते ही थे। अपनी सुविधाओं, असुविधाओं की बात भी करते थे। सम्मेलन के गुण-दोषों पर टिप्पणी करते थे। कमलेश्वर उनमें से किसी को भी सूचना देकर पूछ सकते थे कि भुगतान भारत सरकार करेगी या वे स्वयं करें। . पर उन्होंने संयोजको से बात न कर, उस विदेश में जहां सारे संसार से लोग आए हुए थे, वहां के राष्ट्रपति के प्रासाद की सीढ़ियों पर यह दंगा करने की बात क्यों सोची?

पता चला कि उन्हें एक और शिकायत भी है। उनका विचार था कि रूसी विद्वान् वरान्निक्वोव का भी अपमान हुआ था। रूस में भारतीय दूतावास ने उन्हें यह कह कर सूरीनाम का टिकट दिया था कि वहां उनका सम्मान किया जाएगा। किंतु सम्मानित होने वाले विद्वानों की जो सूची प्रकाशित हुई थी, उसमें वरान्निक्वोव का नाम नहीं था। वे मान रहे थे कि वरान्निक्वोव का भी अपमान किया गया था। और मैं मान रहा था कि वह किसी लिपिक की भूल मात्र थी, जिसकी सूचना अधिकारियों को देकर उसे तत्काल ठीक करवाया जा सकता था।...बिना किसी से कोई शिकायत, बात या संवाद किए एक पराए देश में उन परिस्थितियों में आंदोलन का मार्ग ग्रहण करना क्या उचित था? हमारे देश के विद्वान् लेखक, चिंतक-विचारक ऐसा कैसे कर सकते थे? वे देश के सम्मान को इस प्रकार तो दांव पर नहीं लगा सकते।... किंतु तब मन में आया कि कहीं यह सब माधवी की माया तो नहीं? माधवी का न तो कोई देश होता है, न देश का सम्मान। राष्ट्रपति द्वारा पिलाई गई, सीढ़ियों तक आते ही तो बोलने नहीं लगी?....

प्रातः ही सुना था कि एक अत्यंत वृद्ध और महान लेखक मंत्री जी के सामने हाथ जोड़ कर बहुत धिधियाए थे। बड़े साहित्यकार हैं, इसलिए धिधियाना भी कुछ बड़ा ही था। वे धिधियाए थे तो साहित्यकार का सम्मान भी धिधियाया ही होगा। मुख से लार भी टपकी थी। मंत्रियों को जूते की नोक पर रखने वाला साहित्यकार याचक के रूप में, साहित्यकार के पूरे सम्मान के साथ, धिधियाते हुए प्रार्थना कर रहा था कि उसके कमरे में एक बोटल भिजवा दी जाए।... बस एक बोटल.... पता नहीं बोटल भिजवाई गई या नहीं। भिजवाई ही गई होगी। क्योंकि उन महान् साहित्यकार ने प्रातः तीन बजे एक लेखिका के कमरे में फोन कर उसे जगाया और अनुरोध किया था कि उन्हें नीन्द नहीं आ रही है, वे कृपा कर उनके कमरे में चली जाएं। दोनों साथ बैठ कर एक एक प्याला चाय का पिएंगे। लेखिका ने उनीन्दी आंखें से घड़ी देखी और बोली, “.....जी! रात के तीन बज रहे, और आप मुझे अपने कमरे में बुला रहे हैं। कुछ होश भी है आपको। आप जब पी लेते हैं, तो आपको कुछ पता नहीं होता कि आप क्या कर रहे हैं।” उसने फोन पटक दिया था। अपने कमरे के बंद दरवाजे के कुंडे

चिटकिनियों को पुनः ठीक से बंद कर कंबल ओढ़ कर आशंकित सी सो गई थी। ...प्रातः जैसा कि उचित ही था उन महान् साहित्यकार ने लेखिका से क्षमा मांग ली थी और ताकीद कर दी थी कि वे इस घटना की चर्चा किसी से न करें।

....तो यह सीढ़ियों की घटना भी कहीं माधवी की माया ही तो नहीं? पर मन नहीं माना। नहीं हमारे साहित्यकार की लेखनी और जिह्वा से उसकी आत्मा बोलती है-निर्मल आत्मा, माधवी नहीं। वे लोग सुरा के बहकावे में नहीं आ सकते।...

किंतु तत्काल मेरे विवके ने मुझे टोक दिया...अरे यदि यह माधवी की माया है, तो बात फिर भी कुछ समझ में आती है। किंतु यदि वे लोग अपने पूरे होशो हवास में, अपनी पूर्ण चेतनता में इस प्रकार का व्यवहार कर रहे हैं, तो वह और भी अशोभनीय है। उनके व्यवहार और शिष्टाचार का यह स्तर नहीं हो सकता।...

काफी समय लगा कर हमारे नेता लोग लौटे। पता चला कि इस भूल के लिए चित्रा मुद्गल और अरुणा सीतेश उनसे क्षमा मांग आई हैं। और किसी प्रकार उन्हें शांत किया गया है। उन्होंने कल ही दिल्ली लौट जाने की घोषणा लौटा ली है; किंतु दिल्ली जाकर देख लेने की धमकी अब भी अपने स्थान पर अंगद के पांव के समान अडिग खड़ी है।

“तुमने क्षमा किस बात की मांगी?” मैंने चित्रा से जानना चाहा।

“अरे भाई उनका अपमान हुआ है।”

“व्यवस्था के मामले तो बातचीत से सुलझ जाते हैं। उन्होंने किसी से इस विषय में चर्चा की है?”

“कल जब वे शांत होंगे, मैं उनके कमरे में जाकर उनसे चर्चा करूंगा।” सुनील कुमार श्रीवास्तव ने कहा, “उन्हें बस यही तो समझाया जाना है कि भुगतान का मामला कुछ नियमों के अधीन होता है। प्रश्न मानापमान का नहीं, व्यवस्था का है।”

“उनका अपमान हुआ है।” चित्रा ने कहा।

“उनका अपमान हुआ है या वे इस पराए देश में संसार भर की बिरादरी के सामने इस प्रकार का तांडव कर अपने देश का अपमान कर रहे हैं?” मैंने कहा, “वे यदि सुनील जी से बात नहीं करना चाहते थे तो मंत्री महोदय से बात कर सकते थे। सूरीनामी राष्ट्रपति के प्रासाद की सीढ़ियों पर यह महानाटक रचने का क्या अभिप्राय?”

“मैं वह सब नहीं जानती।” चित्रा ने उत्तर दिया, “वे बड़े हैं। मैं उनका बहुत सम्मान करती हूँ। मुझे उनकी पीड़ा देखी नहीं गई। क्षमा मांग लेने से मैं कोई छोटी नहीं हो गई।”

“और अरुण जी!” मैंने डॉ. अरुणा सीतेश से पूछा, “आपने क्षमाप्रार्थना किस धारा के अन्तर्गत की?”

“नरेन्द्र जी! हम लोग यहां यह दृष्टिकोण लेकर आए हैं कि यह सम्मेलन सफल हो। हमारे देश और हमारी सरकार का सम्मान बढ़े।” वे बोली, “इस प्रकार के कांडो

से हमारा लक्ष्य ही ध्वस्त हो जाएगा। इसीलिए दोषी न होते हुए भी मैंने क्षमा मांग ली।”

सांस्कृतिक केन्द्र पर पहुंच कर किसी ने बातों की चर्चा नहीं की। भूख सबको लगी हुई थी। भोजन स्वादिष्ट था। सबने उसपर ही ध्यान केन्द्रित किया।

अगले दिन पता चला कि अधिकारियों ने आश्वासन दिया है कि कमलेश्वर जी को अपने होटल का दो दिन का किराया नहीं देना पड़ेगा और वरान्निकोव जी को भी मंच पर शॉल ओढ़ा कर उनका सम्मान कर दिया जाएगा। कमलेश्वर जी प्रसन्न थे कि उनका आंदोलन सफल हो गया था। उनकी मांगें मान ली गई थीं। अब उनको किसी से शिकायत नहीं थी।... मैं आज भी मानता हूं कि उस आंदोलन के बिना भी उन समस्याओं को इसी प्रकार सुलझाया जा सकता था।...दस जून को, विदाई के दिन कमरा छोड़ते हुए, तोरारिका होटल ने हममें से कितनों से ही छोटे मोटे बिलों के भुगतान का आग्रह किया था। किसी ने एक कप काफी पी थी किसी ने पानी की एक बोतल ली थी। किसी ने... कुछ लोगों ने चुपचाप भुगतान कर दिया। मैंने वहीं उपस्थित विदेश मंत्रालय के संयुक्त सचिव श्री दयाकर से कहा कि कृपया वे इस बात को स्पष्ट कर दें कि बिल हमें देने हैं, या हमारा दूतावास उनका भुगतान करेगा। उन्होंने तत्काल निर्देश दिया कि ऐसे बिलों को भारतीय दूतावास को भेज दिया जाए। भुगतान वहीं से होगा।

इस सम्मलेन की एक विशेषता यह रही कि दो घंटे के सत्र में प्रायः बीस बीस वक्ताओं की सूची होती थी। उनके साथ साथ एक बीज वक्तव्य देने वाला, एक विशिष्ट अतिथि-जिनसे अपेक्षा होती थी कि वे विषय की अच्छी जानकारी देंगे।

इसलिए संचालक महोदय श्रीगणेश ही इस शैली में करते थे : “वक्ता समय का ध्यान रखें। पांच मिनटों से अधिक कोई न बोले और संभव हो तो दो ही मिनटों में अपना वक्तव्य पूरा कर दें.....!”

इधर सत्र आरंभ होता था और उधर अध्यक्ष और संचालक के पास पर्चियां पहुंचने लगती थी कि कुछ और लोग भी बोलना चाहते हैं। संचालक भी इतने उदार और श्रद्धावान थे कि लोगों के आग्रह पर वे कार्यक्रम में कभी भी व्यतिक्रम कर नए नाम जोड़ लेते थे। कभी-कभी तो वे किसी आग्रह के अभाव में अपनी श्रद्धा के हाथों बाध्य होकर ही कुछ लोगों को आमंत्रित कर लेते थे। नए नाम आ जाते थे तो पुराने नामों के खिसकने की आशंका भी होने लगती थी। परिणामस्वरूप कोई न कोई संकट खड़ा हो ही जाता था।

हिंदी की बोलियों वाला सत्र समाप्त हो रहा था कि मिश्र जी का उस कक्ष में शुभागमन हुआ। वे आकर श्रोता-वर्ग में पहली पंक्ति की एक कुर्सी पर बैठ गए थे, किन्तु संचालक महोदय को यह अच्छा नहीं लग रहा था। शायद उनकी श्रद्धा आहत हो रही थी। अभी अभी समय के अभाव के कारण अपने एक गुरु को ‘गुरु दक्षिणा’

के रूप में वे केवल दो ही मिनट का समय दे पाए थे। किंतु महाकाल के दबाव को विस्मृत कर वे बोले, “अंतिम समय में पंडित जी आ गए हैं। अतः उनके विचारों को सुनना भी आवश्यक हो गया है।”

कार्यक्रम को अपनी समय-सीमा का अतिक्रमण तो करना ही था।

अन्य अनेक सदस्यों के साथ, मैं भी दिल्ली में ही समिति की बैठकों में कह चुका था कि प्रत्येक सत्र के वक्ता पूर्वनिर्धारित होने चाहिए। यदि गंभीर चर्चा का लक्ष्य प्राप्त करना है तो वक्ताओं को समय अधिक दिया जाए। किंतु दिल्ली से ही अधिकारियों का दृष्टिकोण यह था कि अधिक से अधिक लोगों को सम्मेलन में सम्मिलित होने का ही नहीं, मंच से बोलने का भी अवसर दिया जाए। सम्मेलन जो ठहरा। वे उसे वक्ताओं और श्रोताओं का नहीं, मात्र वक्ताओं का सम्मेलन बनाना चाह रहे थे। उनका तर्क था कि जो व्यक्ति लाख रूपए खर्च कर सहस्रों मील की यात्रा कर पारामारिबो पहुंचेगा, उसे मंच से बोलने के लिए दो मिनट तो मिलने ही चाहिए। ... और मेरा तर्क ठीक विपरीत था कि जो व्यक्ति एक लाख रूपए खर्च कर सहस्रों मील की यात्रा पर पारामारिबो आएगा, वह क्या मंच से दो ही मिनट बोलने के लिए आएगा।... पर नक्कारखाने में तूती की आवाज आज तक कभी नहीं सूनी गई।

हिंदी और संस्कृति वाला सत्र आरंभ हुआ, तो संयोजक महोदय ने पंद्रह मिनटों में यह सूचना दी कि वक्ताओं को पांच मिनट से अधिक समय नहीं लेना चाहिए। समय-पालन आवश्यक है।...और उसके पश्चात् भी वे वक्ता को आमंत्रित करने के स्थान पर संस्कृति संबंधी अपना दृष्टिकोण प्रतिपादित करते रहे।...यह ऐसी कोई नई बात भी नहीं थी। आजकल प्रायः संचालक यही करते हैं। समय के अभाव की धुंधलाधार घोषणाओं के मध्य भी वे प्रत्येक वक्ता के पश्चात् अपना वक्तव्य अवश्य देते हैं और कभी कभी तो वक्ता से भी अधिक समय लेते हैं।

मैं आरंभ से ही मानता आया हूं कि बिना किसी नीति और विचार के हिंदी में असंयत ढंग से दूसरी भाषाओं के शब्दों की ठूसठांस से उसका रूप विकृत हो रहा है नए शब्द जोड़ने का अर्थ होता है अपने अभावों की पूर्ति, अपनी भाषा के सौन्दर्य में वृद्धि। जिन भावों, वस्तुओं और क्रियाओं के लिए हमारी अपनी भाषा में शब्द न हो, उनके लिए अपनी भाषा और संस्कृति के अनुरूप दूसरी भाषाओं के शब्द स्वीकार करना, हमारा धर्म है; किन्तु अपने शब्दों का उठाकर कूड़े के समान फेंक देना और दूसरी भाषाओं के अच्छे बुरे शब्दों को गोद लेकर गले लगा लेने की नीति से मैं कभी सहमत नहीं हो पाया।

इस सत्र में बीज वक्तव्य डॉ. शंकरलाल पुरोहित को देना था। विशिष्ट अतिथि के रूप में मेरा वक्तव्य था; और अध्यक्षता डॉ. धर्मपाल मैनी कर रहे थे।

मेरे मन में बात स्पष्ट थी कि एक सौ तीस वर्ष पहले, भारत से जो लोग सूरीनाम आए थे, वे अपने साथ ‘रामचरितमानस’ की प्रति लेकर आए थे। उनका

पाथेय वही एक ग्रंथ था। यह उस ग्रंथ का ही प्रताप था कि भारत से गए उन सूरीनामियों ने न आज तक अपना धर्म छोड़ा; न अपनी संस्कृति और न अपनी भाषा। वे आज भी स्वयं को भारतीय समाज का ही अंग समझते हैं संस्कृति, धर्म और भाषा के कारण।

मेरा वक्तव्य मुख्यतः यह स्पष्ट करने का प्रयत्न था कि किसी भी भाषा का अपनी संस्कृति से घनिष्ठ संबंध होता है। भाषा छिन जाए तो संस्कृति भी छिन जाती है। यही कारण है कि प्रत्येक आक्रमणकारी सबसे पहले पराधीन देश की भाषा उससे छीन लेता है और अपनी भाषा उनपर आरोपित करता है। भाषा के बदलते ही समाज की आधी संस्कृति तो अपने आप ही बदल जाती है। अंग्रेजी से प्रभावित लोग मिलने पर गुड मार्निंग और गुड ईवनिंग के रूप में अभिवादन करने लगे हैं। कहां, जहां मिलने पर हम किसी के चरण स्पर्श करते थे, किसी को नमन करते थे, किसी को प्रणाम करते थे, उनको मान सम्मान देते थे, किसी को आशीर्वाद देते थे अब वह सब भूलकर उससे मौसम विभाग के समान, ऋतु और मौसम की बात करने लगते हैं।

हम चाहें तो हिंदी की असंख्य पुस्तकों की लंबी सूची गिना कर बता सकते हैं कि हिंदी में भारतीय संस्कृति का कैसा अमूल्य और अतुलनीय भंडार भरा है। भाषा में वह संस्कृति कहां से आई? शब्द पहले बने या संस्कृति ने उन शब्दों को वह अर्थ दिया, वह सामर्थ्य दिया, जिससे वे उसका वहन कर सकें। वस्तुतः शब्द तो वे पहले से ही थे, किंतु जब कबीर, सूर, तुलसी और गुरु नानक जैसे सांस्कृतिक पुरुष जन्म लेते हैं, वे उन साधारण शब्दों में ही संस्कृति का गूढ़ अर्थ भर देते हैं। उन शब्दों के पीछे संतो के तपस्या है। तपस्या के बिना शब्द प्रभावशाली नहीं होते। उन शब्दों का त्याग, करीब, सूर तुलसी, गुरु नानक और मीरा का भी त्याग है, सारी सांस्कृतिक धरोहर का त्याग है। अतः उन शब्दों का त्याग बहुत सोच समझ कर करना चाहिए, अन्यथा उन शब्दों के साथ सांस्कृतिक अवधारणाओं का लोप भी हो जाता है। किसी भाषा से उसका एक शब्द भी छीन लिया जाए तो वह अपनी संस्कृति से दूर जा पड़ती है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक उक्ति है, “ज्यों ज्यों वय बढ़ता जाता है, आयु क्षीण होती जाती है।” इसमें आयु का अर्थ है हमारे पूर्ण जीवन का वह काल, जो जीवात्मा अपने जन्म के समय ही नियत करा आया है। आयु जन्म के समय ही निश्चित होती है। तो यह शब्द बताता है कि हम उस संस्कृति से संबद्ध हैं जो यह मानती है कि जीवात्मा अपनी नियति के साथ आता है। आयु किस आधार पर नियति होगी? कोई आधार तो होगा ही। वह आधार है पूर्वजन्म के कर्म। तो हम यह मान कर चल रहे हैं कि पूर्व जन्म भी होता है और उसके कर्मों का फल जन्म जन्मांतरों में जीवात्मा के साथ चलता है। हम जन्मांतरवाद और कर्मसिद्धांतदोनों में विश्वास करते हैं। एक स्थिति वह भी रही होगी, जब कर्मपफल अभी आरंभ नहीं हुआ था। जीवात्मा ने कर्म

नहीं किया था, क्योंकि उसने कामना ही नहीं की थी। तब वह शुद्ध आत्मा थी। अतः हम आत्मा के स्वरूप पर विचार करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब तक किन्हीं भी कारणों से आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर नहीं जुड़ जाता, तब तक वह मन, बुद्धि और अहंकार से संबद्ध नहीं होता, तब तक वह शुद्ध आत्मा है, परमात्मा का अंश है।

एक शब्द आयु के साथ एक संस्कृति के चिंतन के इतने आयाम जुड़े हुए हैं। शताब्दियों की अपनी तपस्या से मनीषियों ने उस शब्द में ये अर्थ भरे हैं। यदि वह शब्द आपकी भाषा में से विलुप्त हो जाता है, तो आप एक शब्द नहीं, उसके साथ बहुत कुछ और भी खो देते हैं।

हम एक शब्द और लेंअगस्त्य। अगस्त्य एक ऋषि का नाम है किन्तु उसमें हमारे सांस्कृतिक जीवन की एक पूरी कथा छिपी हुई है। ग का अर्थ है ‘गमन-जाना, चलना। अग का अर्थ है, जो चल न सके, हिलडुल न सके - पर्वत तो अग को ‘स्त्यय’ करने वालापर्वत को ऊँचा उठने से रोकने वाला है-अगस्त्य। कथा है कि विंध्याचल आकाश की ओर उठता जा रहा था और उससे भारत उत्तर और दक्षिण-दो भागों में बंट रहा था। ऋषि अगस्त्य को यह विभाजन स्वीकार नहीं था। उन्होंने विंध्याचल से कहा कि मैं उस पार जा रहा हूँ, जब तक लौटकर न आऊँ तब तक रुके रहना। और ऊपर मत उठना। अतः वे अगस्त्य कहलाए।

इस कथा में स्पष्ट है कि विंध्य के उत्तर और दक्षिण में बसने वाले लोगों में किन्हीं कारणों से मतभेद बढ़ रहा था। अगस्त्य ने उस मतभेद और विभाजन को रोकने के लिए यह युक्ति रची। वे स्वयं दक्षिण चले गए और कभी लौट कर नहीं आए। वहां रहकर उन्होंने वे भेद मिटा दिए और वह विभाजन टल गया। अब यदि हम पर्वत के लिए अग शब्द का प्रयोग न कर, कोई भी और शब्द ले लेते हैं, चाहे वह फारसी का ‘कोह’ हो अथवा अंग्रेजी का ‘माउण्टेन’, उससे अगस्त्य शब्द कभी नहीं बन सकता। परिणामतः यह शब्द और भारत के लोगों के सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण कथा पूर्णतः लुप्त हो जाती है।

ये शब्द हिंदी के ही नहीं हैं। वे मूलतः संस्कृत के शब्द हैं, और प्रायः भारत की सभी मुख्य भाषाओं में प्रचलित हैं। इसीलिए हमारे लिए यह भी आवश्यक है कि हम हिंदी में संस्कृतनिष्ठ शब्दावली बचाए रखें। वही भारतीय भाषाओं की एकता और समानता का आधार है। यदि हिंदी में से संस्कृत के शब्द लुप्त होते रहे और उसके स्थान पर अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द आते रहे हिंदी का अन्य भारतीय भाषाओं से बहनापा समाप्त हो जाएगी। यह तो संभव है कि तब अफगानिस्तान और पाकिस्तान के लोग हिंदी कुछ और सुविधा से समझ सकें, किन्तु भारत के अहिंदीभाषी प्रदेशों के लिए हिंदी सदा के लिए पराई हो जाएगी।



मेरे पश्चात् दो एक भाषण भारतीय संस्कृति की महानता को प्रतिपादित करने वाले हुए। इस सत्र का विषय अपनी संस्कृति की महानता का बखान नहीं था, हिन्दी से उसके संबंध पर विचार करना था। किंतु उस भावावेश को रोका नहीं जा सका। उनमें विषय नहीं था किंतु भावना थी।

और तब वी.कृष्ण नाम के विद्वान ने उस भावना का विपक्ष संभाल लिया। विषय का सर्वथा तिरस्कार करते हुए उस मंच से प्रतिपादित किया कि भारत की कोई एक संस्कृति है ही नहीं। भारत के प्रत्येक प्रदेश की अपनी अलग संस्कृति है। उनकी दूसरी प्रमुख स्थापना थी कि हमारी संस्कृति में गर्व करने योग्य कुछ नहीं है; वे ये भूल गए कि उनका पहली स्थापना थी कि भारत की एक संस्कृति नहीं है। तो फिर जाने वे किस संस्कृति के विषय में कह रहे थे कि उसमें गर्व करने के योग्य कुछ नहीं था। उनका तर्क था कि यदि हमारी संस्कृति में कुछ श्रेष्ठ होता तो हमारा समाज इतना पतित न होता।

यह सब कुछ बड़ी शांति से सुना गया जिनकी भावनाएं आहत हुई, उन्होंने भी सुना। जिनको उसमें तर्कशून्यता लगी, उन्होंने भी सुना। जिनको वक्ता का अज्ञान अखरा, उन्होंने भी सुना। दंगा करना तो दूर किसी ने उन्हें टोका तक नहीं। मैं सोचता रहा कि इस व्यक्ति ने शायद भारतीय संस्कृति के संबंध में कभी न कुछ पढ़ा है और न दंग से चिंतन किया है। उसे शायद यह ज्ञात ही नहीं है कि संस्कृति होती क्या है-और भारतीय संस्कृति। उसे समझने के लिए थोड़ी तपस्या चाहिए। उसके कानों में कभी स्वामी विवेकानन्द की वह उक्ति नहीं पड़ी कि समाज इसलिए पतित नहीं है कि हमारा धर्म और संस्कृति पतित है। समाज इसलिए पतित है, क्योंकि उसने धर्म और संस्कृति का त्याग कर दिया है। यदि समाज धर्म के बताए मार्ग पर चलता अपनी संस्कृति के निर्देशों का पालन करता, तो वह इस प्रकार पतन के गर्त में कभी न गिरता।

एक वह सन्यासी था, जो सहस्रों मीलों की समुद्री यात्रा का कष्ट सहन कर, शीत, भूख, अपमान और विष जैसे मृत्यु के दूतों से जूझता हुआ इतनी दूर आकर संसार को यह बता कर गया था कि अद्वैत संसार का सर्वश्रेष्ठ धर्म है और भारतीय संसार की सर्वोत्कृष्ट संस्कृति है।...और एक ये महानुभाव हैं, जो भारत की निर्धन जनता के पैसे के बल पर सहस्रों मीलों से विमान में उड़ते हुए आए हैं, भारत के प्रतिनिधि के रूप में इस विश्व मंच पर खड़े हुए हैं और घोषणा कर रहे हैं कि न तो भारत की एक संस्कृति है, और न ही भारत की संस्कृति का गौरव से कोई संबंध है। भारत के इस प्रतिनिधि से देश लौटने पर कोई नहीं पूछेगा कि उसे देशद्रोही क्यों न माना जाए? उस देश को कलंकित करने का अपराध क्यों घोषित न किया जाए? संसार का कोई देश अपने पैसे से प्रतिनिधि बना कर किसी व्यक्ति को इसलिए विश्व के मंचों पर नहीं भेजता कि वह संसार के सामने अपने देश का अपमान कर आने का सुयश पाये। पर भारत माता का लाड़ला यही कर रहा था और हम सब उसे सुनने को बाध्य थे।

श्रोताओं में से पचियां आनी आरंभ हो गई कि आखिर भारतीय संस्कृति है क्या?...वक्ताओं पर वक्ता आते रहे और प्रश्नों का दबाव बढ़ता गया। शायद इसी दबाव के कारण अध्यक्ष प्रो. धर्मपाल मैनी ने यह निर्णय किया कि वे अंत में न बोल कर अपना भाषण अभी प्रस्तुत कर दें ताकि इन प्रश्नों के उत्तर दिए जा सकें और प्रश्नों का दबाव कम हो सके।

वे उठ खड़े हुए।

उनका भाषण आरंभ होने पर सूरीनामी श्रोताओं में एक व्याकुलता घर कर गई। परंपरा तो यह है कि अध्यक्ष के बाद कोई बोलता ही नहीं, तो फिर सूरीनाम के वक्ता कब बोलेंगे? मैनी ने बार बार आश्वासन दिया कि ऐसी कोई बात नहीं है, सारे वक्ताओं को समय दिया जाएगा। किंतु वातावरण पूर्णतः शांत नहीं हुआ। हल्की हल्की व्याकुलता की लहरें तैरती ही रहीं। और जब प्रो. मैनी भारतीय संस्कृति के लक्षण गिनाते हुए बोले कि कर्म सिद्धांत और जन्मंतरवाद भी भारतीय संस्कृति के अनिवार्य अंग हैं तो हाल में पीछे खड़े मध्यप्रदेश के कवि राजेश जोशी ने जोर से चिल्ला कर कहा, “आप हिंदू संस्कृति की व्याख्या कर रहे हैं। भारत में अनेक मुसलमान भी बसते हैं।”

वे मंच से कही हुई बात का उत्तर मंच से देने के समर्थक नहीं थे। वे भूल गए थे कि कृष्ण की बहुत सारी असहनीय ओर अपमानजनक बातें भी लोगों ने चुपचाप सुनी थी, और समय आने पर मंच से ही उसका उत्तर देने का संकल्प किया था। किंतु राजेश जोशी बहुत उतावले और उतेजित थे। वे वक्ता की बात पर अपनी निर्णय हॉल में से ही तत्काल सुना देना चाहते थे। हॉल में पहले से ही कुछ व्याकुलता थी। उनके चिल्लाने से पक्ष और विपक्ष में अनेक और स्वर उभरे। भागवत रावत चिल्लाने में उनका साथ दे रहे थे।

उनकी बात सत्य थी कि भारत में मुसलमान भी बसते हैं। यह भी सत्य था कि मुसलमानों के भारत में आने के पश्चात से कलाओं में अनेक प्रकार के प्रभावों के कारण कुछ परिवर्तन हुए थे। वे अध्यक्ष की अनुमति से अपने सारे तर्क, मंच से अनुशासित रूप से श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते थे। किंतु उन्होंने ऐसा क्यों नहीं किया, यह मैं समझ नहीं पाया।

मैं सोचता रहा...भारतीय दर्शन और भारतीय अध्यात्म ने अपनी परंपरा के विरुद्ध विदेशी प्रभाव ग्रहण किया हो इसका कोई प्रमाण अभी तक तो नहीं मिलता। भारत में बड़ी संख्या में मुसलमानों और ईसाइयों के होते हुए भी भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि भगवद्गीता ही है। उपनिषद् इस देश की संस्कृति को नियंत्रित करते हैं, इसीलिए इस देश में हिंदुओं के साथ मुसलमान और ईसाई भी रह रहे हैं। ....कर्म सिद्धांत और जन्मंतरवाद पर भारतीय संस्कृति का उत्तर क्या होगा? क्या यह मान लिया गया है कि भारत में मुसलमानों की जनसंख्या होने के कारण भारतीय संस्कृति

अब जन्मांतरवाद को नहीं मानती? या यह मानती है कि हिंदू का तो पुनर्जन्म होगा, किन्तु मुसलमान अपनी कब्र में कयामत तक सोया रहेगा? भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व कौन सा विचार करेगा? तथाकथित मिली जुली गंगाजमुनी संस्कृति क्या कहेगीमृत शरीर को जला दिया जाए क्योंकि उसकी आत्मा उसी शरीर में लौटने वाली नहीं है। आत्मा एक शरीर त्यागने के पश्चात् दूसरा शरीर धारण करती है....या गंगाजमुनी संस्कृति कहेगी कि उस शरीर को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया जाए, क्योंकि उस शरीर को कयामत के दिन फिर से उठकर खड़े होना है? .....संस्कृति का अर्थ एक समाज के व्यवहार से निर्धारित होगा, या समग्र रूप से शाश्वत सत्त्यों का निर्देश करनेवाले उसके सहस्रों वर्षों के चिंतन के निष्कर्षों से? अब संसार में शायद ही कोई ऐसा विकसित देश हो, जिसमें एकाधिक धर्मों के लोग नहीं रहते, किंतु कहां की संस्कृति एक ही होती है। वह भारत के सिवाय कहीं भी गंगाजमुनी नहीं हुई। क्यों?

इस अराजकता से बल पाकर हाल में एक अपरिचित सज्जन नारेबाजी करते हुए मंच तक आ गए और उन्होंने माइक पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। सन्यासी ब्रह्मदेव को इतना क्रोध आया कि उन्होंने माइक उतार कर संयोजकों को सौंप दिया कि यह अशिष्ट कोलाहल को अब बंद ही कर दें। कोई नहीं जानता था कि अब किसे बोलना है। ब्रह्मदेव हॉल से बाहर आ गए थे। मैं भी हॉल का तमाशा देखने के लिए नहीं रुका। मैंने ब्रह्मदेव जी से कहा, कि वे अपने प्रभाव का प्रयोग करें। स्थिति को संभालने का प्रयत्न करें। वे बोले कि सन्यासी के रूप में उन्हें संयम बरतना है, क्रोध नहीं करना है, किन्तु वे अपने धर्म और संस्कृति के अपमान को नहीं सह सकते थे। वे जानते थे कि हम लोग भारत में ऐसे धर्म और संस्कृति विरोधी लोगों के मध्य रह रहे हैं। वे तो भारत से बहुत आशाएं लगाए बैठे थे। किंतु जो भारत अपनी धरती पर अपने धर्म और संस्कृति की रक्षा नहीं कर पा रहा, वह त्रिनिडाड और सूरीनाम में हिंदुओं को क्या सहारा देगा।

किंतु वे हॉल में आ गए। माइक पुनः अपने स्थान पर आ गया था। अब सूरीनाम के लोगों ने स्थिति संभाल ली थी। उपद्रव करने वालों को चेतावनी दे दी थी भले से बैठ जाइए। ...और वे या तो बैठ गए या बाहर चले गए।

इस समय जो सज्जन मंच पर माइक संभाले हुए थे, वे रामचरितमानस की चौपाइयां गा रहे थे और श्रोता अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहे थे। उन्होंने जय श्रीराम का नारा लगाते हुए बहुत स्पष्ट रूप से समझा दिया कि भारत की संस्कृति का अर्थ और रूप क्या है। और उसकी प्रशंसा में जो कुछ कहा जा सकता था, कह गए।

दूसरा भाषण भी सूरीनाम के ही एक अन्य वक्ता का था। उन्होंने उपद्रवियों को बहुत कठोर शब्दों में चेतावनी देते हुए भारतीय धर्म और संस्कृति का गौरव समझाया।

स्थिति शांत हो चुकी थी। कार्यक्रम अपनी पटरी पर लौट आया था। स्पष्ट हो

चुका था कि वह मंच और वे श्रोता धर्म और संस्कृति का कौन सा रूप अपनाने का उत्सुक थे उनका विचारों में कहीं अस्पष्टता अथवा द्वंद नहीं था। वे अपनी संस्कृति को अच्छी तरह पहचानते थे और उसकी रक्षा के लिए तत्पर थे।

भारत लौट कर समाचारपत्रों में सूरीनाम से लौटे हुए दिग्गज विद्वानों का जयघोष पढ़ा कि उन्होंने अपने शौर्य से इस सम्मेलन को हिंदू सम्मेलन हो जाने से बचा लिया। .....मैं आज तक सोच रहा हूँ कि वह हिंदी सम्मेलन था, हिंदू सम्मेलन नहीं। बात तो हिंदी और भारतीय संस्कृति की थी। हिंदू सम्मेलन ही करना हो तो वह घोषित रूप से किया जा सकता है, उसे कौन रोक सकता है। हिंदू सम्मेलन के लिए हिंदी सम्मेलन की ओट लेने की आवश्यकता नहीं है। किंतु हिंदी सम्मेलन में संस्कृति की बात आएगी, तो उसमें तुलसी नहीं आएंगे क्या? तुलसी आएंगे तो राम की चर्चा नहीं होगी क्या? हम अपनी संस्कृति में से भगवद्गीता और उपनिषदों को निष्कासित कर बात करेंगे क्या? क्या भारतीय संस्कृति का इतिहास भारत पर मुसलमानों के आक्रमण के पश्चात् से आरंभ होगा? (जैसा कि पाकिस्तान में होता है).....और हमारे ये विद्वान अपना पराक्रम इसमें मान रहे हैं कि उन्होंने सम्मेलन को एक बड़े संकट से बचा लिया। जैसे संसार की सर्वश्रेष्ठ संस्कृतियों में से एक-भारतीय संस्कृति और स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में संसार के सर्वोत्कृष्ट धर्म हिंदू धर्म भारत अथवा मानवता के लिए खतरा हो।

पर उसके साथ सोचने की बात यह भी है कि भारत की केन्द्रीय और प्रदेशिक सरकारों के पास कोई नीति और दृष्टि भी है कि वे दूर दराज की भूमि पर बसे भारतवंशियों को अपने एक ऐसे सम्मलनों से क्या संदेश पहुंचाना चाहती हैं। हम वहां बसे भारतवंशियों को यह बताने गए थे कि वे अब भी हमारे अंग हैं, हमारे अंश हैं, या करोड़ों रूपए खर्च कर यह बताने गए थे कि वे जिस भाषा, धर्म और संस्कृति की पूजा करते हैं भारत में अब उसके लिए कोई स्थान नहीं है, हम अपने सम्मेलनों को उससे बचाना चाहते हैं?.....हमें सोचना यह है कि प्रतिनिधित्व करने जो लोग विश्वमंच पर भेजे जाते हैं, वे राजनीतिक दलों की क्षुद्र सांप्रदायिकता का विषवमन करने के लिए भेजे जाते हैं अथवा अपने देश के गौरव और सम्मान की प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए भेजे जाते हैं? वे लोग सूरीनाम के भारतवंशियों को अपने साथ जोड़ने के लिए गए थे अथवा उनसे अपने अलगाव की घोषणा करने गए थे? सोचना यह है कि व्यक्ति का अहंकार बड़ा है अथवा देश का मान सम्मान? यदि विदेशों में जाकर विश्वमंचों पर आसीन होकर लोग स्वयं को देश से बड़ा मान लेते हैं, अपने व्यक्तिगत द्वेष के परिणामस्वरूप उन आयोजनों को ध्वस्त करने का षडयंत्र रचते हैं, अथवा अपनी किसी असुविधा के कारण देश के सम्मान की मिट्टी में मिलाने को तुल जाते हैं, तो उनके इस घृणित कर्म के लिए अपराधी कौन हैं?

## मेरा 'रामगाथा' उपन्यास

डा. रमानाथ त्रिपाठी\*

वाल्मीकि-रामायण भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ महाकाव्य है। वाल्मीकि के मानव राम अत्यन्त सुन्दर थे। उनका शरीर साँचे में ढला-सा था। उनका कण्ठस्वर नगाड़े जैसा था। बाहें लौह मुद्गर सी पुष्ट थीं। वे जितेन्द्रिय थे। वे परायी नारी की ओर आँख उठाकर नहीं देखते थे। वे कभी किसी दुर्बल और असहाय को सताते नहीं थे। वे कठिनाई में पड़कर भी कभी झूठ नहीं बोलते थे। उन्होंने वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन करते हुए विश्व के समक्ष उच्च जीवन-मूल्य स्थापित किये। वाल्मीकि के राम जन जन के मन पर छा गये। भारत की सभी भाषाओं में राम पर साहित्य की रचना हुई। उनकी कीर्ति-पताका सुदूर विदेश तक पहुँची। राम भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठ उपलब्धियों के प्रतीक बनते चले गये।

वाल्मीकि के राम क्रोध, शोक और प्रेम के क्षणों में अत्यन्त आवेशमय हो उठते थे। गो. तुलसीदास ने राम के आवेश को संयमित कर उन्हें सुन्दरता, शक्ति और शील का ऐसा प्रतीक बना दिया जिसकी समता विश्व का कोई भी नायक नहीं कर सकता। वाल्मीकि के ऐतिहासिक महामानव राम अध्यात्म-रामायण के युग तक आते-आते विष्णु के अवतार बन गये, किन्तु इनका मानवीय पक्ष दुर्बल हो गया। तुलसी के राम सहृदय ब्रह्म और संवेदनशील मानव दोनों ही हैं। पिछली लगभग पाँच शताब्दियों से उन्होंने कोटि-कोटि जनों को गहराई से प्रभावित किया है। उनके ग्रन्थ रामचरितमानस ने पारिवारिक-सामाजिक आदर्श स्थापित करने और आततायी शक्ति से जुझने की निरन्तर प्रेरणा दी है। साक्षी हैं मॉरिशस, फीजी, सूरीनाम, गुयाना, दक्षिण अफ्रीका, ट्रिनिडाड आदि देशों के प्रवासी भारतीय। तुलसी आज भी प्रासंगिक हैं, तथापि परिस्थितियों में बदलाव तो आया ही है।

राम के माध्यम से समस्त राष्ट्र को तो एकता के सूत्र में बाँधा ही जा सकता है। रामकथा से प्रभावित देशों को भी अपने से जोड़ा जा सकता है। किन्तु, हमारे देश में कुछ ऐसे लोग हैं जो भारतीयता के निरर्थक विरोध में ही प्रगतिशीलता खोजते रहते हैं। रामकथा का मर्म और महत्व न समझते हुए वे उस पर प्रहार करते हैं।

\*हिन्दी के यशस्वी साहित्यकार एवं राम-कथा के मर्मज्ञ।

नवीन शैक्षणिक प्रगति के कारण भी रामकथा के प्रति उदासीनता पनपी है। आज की पीढ़ी ब्रज और अवधी भाषाओं में लिखित काव्यग्रन्थों के प्रति वांछित लगाव नहीं रखती। साथ ही रामकथा की कई बातें आज अप्रासंगिक, तर्कहीन और अविश्वसनीय मानी जा सकती हैं। युग की माँग है कि रामकथा को नवीन परिस्थितियों के मध्य नवीन रूप में, विशेषतः गद्य में प्रस्तुत किया जाए।

वाल्मीकि के राम इतिहास कहे जा सकते हैं तो तुलसी के राम निरन्तर विकसित होने वाली स्वस्थ परम्परा हैं। मैंने चेष्टा की है कि तुलसी के राम के देवत्व वाले प्रभा-मण्डल को हटाकर उन्हें इतिहास और सहज मानवीयता के मध्य खोजा जाए। अतः मैंने अपने 'रामगाथा' उपन्यास में वाल्मीकि की कथा को मुख्य आधार के रूप में स्वीकार किया है, क्योंकि रामकथा-विषयक इतिहास का उपलब्ध स्रोत वाल्मीकि-रामायण ही है। तुलसी के काव्य-सौन्दर्य और मर्यादावरद से मैं अप्रभावित नहीं रह सका हूँ। मैंने चाहा है कि रामकथा तर्कसंगत, विश्वसनीय और सहज ग्राह्य रूप में प्रस्तुत की जाए। मैंने यह भी चेष्टा की है कि पाठक को रामके युग में पहुँचा दिया जाए, न कि राम के युग को खींचकर आधुनिकता में ढाला जाए।

वाल्मीकि की कैकेयी सच में राम को प्यार करती थी। उसके मायके की दासी मन्थरा ने उसके मन में सौतिचा डह जगाया और दशरथ के निर्णय को पक्षपातपूर्ण बताकर उसे भड़काया। अपने पुत्र के मंगल के लिए यदि वह कठोर हो उठी तो यह सब सहज स्वाभाविक था। तुलसी के युग तक राम के ब्रह्मत्व का विकास हो चुका था। कैकेयी जननी थी रामभक्त भरत की। उसके चरित्र को गिराया जाना उचित नहीं समझा गया। कल्पना की गयी कि सरस्वती आकर उसकी बुद्धि भ्रमित कर गयीं। अहल्या-प्रसंग भी वाल्मीकि-रामायण में स्वाभाविक था। अहल्या ने स्वेच्छा से इन्द्र के साथ केलि की थी। तुलसी के युग तक राम के ब्रह्मत्व के विकास के कारण अहल्या को कलंक-मुक्त करने की चेष्टा की गयी। माना गया कि अहल्या के साथ धोखा हुआ था। राम की चरण-रज का महत्व बढ़ाने के लिए अहल्या को पाषाणी बना दिया गया। ऐसे सारे प्रसंगों में, मैंने अपने को वाल्मीकि के निकट पाया है।

वाल्मीकि-रामायण में भी कई ऐसी घटनाएँ हैं। मैंने ऐसी घटनाओं को विश्वसनीय या तर्क-संगत रूप में प्रस्तुत किया है। किसी-किसी घटना का परित्याग भी किया है। मैं क्रमानुसार कुछ गिने-चुने प्रसंग ले रहा हूँ, जिससे कि पूर्ववर्ती कथा-प्रसंगों से साम्य-वैषम्य हो सके। मैंने कई-कई दिनों के विचार-मन्थन के बाद ही लेखनी उठायी है।

वाल्मीकि-रामायण की आधिकारिक कथा अयोध्याकाण्ड से लंकाकाण्ड तक की मानी जाती है। बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड के अनेक प्रसंग कालान्तर में जोड़े गये हैं। वाल्मीकि-रामायण की आधिकारिक कथा में राम महामानव हैं। वे किसी देवता के अवतार नहीं हैं। बालकाण्ड का पुत्रेष्टि-यज्ञ सरासर प्रक्षिप्त लगता है। राम और उनके

भाइयों को विष्णु के चार अंशावतार दिखलाने के लिए ही यह प्रसंग कल्पित हुआ है। विचार का विषय है कि यदि दशरथ के 350 रानियां थीं तो उनमें से कोई गर्भवती क्यों नहीं हुई? पुत्रेष्टि-यज्ञ की कल्पना करनेवालों ने सोचा भी नहीं होगा कि आगे चलकर दुष्ट लोग इस प्रसंग को लेकर गन्दा प्रचार करेंगे।

प्रक्षेप करनेवालों ने राम के जन्म की तरह उनकी मृत्यु में भी अवतारवाद प्रतिष्ठित कर दिया। राम निश्चय करते हैं कि वे सरयू नदी में प्रवेश कर जीवन शेष करेंगे। उनके साथ उनका पूरा परिवार, ऋषि, ब्राह्मण आदि तो हैं, ही पशु-पक्षी और छोटे से छोटे प्राणी, अर्थात् कीट-पतंग भी हैं। इन सबको लेने के लिए आकाश में विमान आ जाते हैं। राम आदि सरयू में प्रवेश कर साकेत-धाम चले जाते हैं। वानर-रिछ तो देवताओं के अंश थे, वे अपने पूर्व रूप से जा मिलते हैं। शेष सभी प्राणी सन्तानक-लोक भेजे जाते हैं। भक्त-जनों की यह धारणा रही है कि ऊपर स्वर्ग-लोक अथवा साकेत-धाम में सभी के स्वामी राम अपने परिवार, परिकर और सेवकों के साथ रहते हैं। वे अवतार लेकर धरती पर आये और पुनः अपने लोक को लौट गये।

आधुनिक विचारकों ने निराधार कल्पना कर डाली कि राम जीवन से इतना ऊब गये थे कि उन्होंने जल-समाधी ली, अर्थात् उन्होंने आत्महत्या की। ये भ्रमित विचारक वाल्मीकि-रामायण के प्रसंग को ठीक से समझने का प्रयास ही नहीं करते। पुत्रेष्टि-यज्ञ और राम का स्वर्ग-गमन दोनों ही विष्णु के अवतार से सम्बन्धित हैं। मैंने इन दोनों प्रसंगों को अपनी पुस्तक में स्वीकार नहीं किया। तुलसी ने भी राम का अवसान नहीं दिखाया है।

वाल्मीकि-रामायण के प्रारम्भिक रूप में सीता जनक की औरस सन्तान अर्थात् उनकी रानी के गर्भ से उत्पन्न बेटी रही होगी। महाभारत में भी उन्हें जनक की आत्मजा बताया गया है। कालान्तर में वाल्मीकि-रामायण में सीता की अलौकिक उत्पत्ति दिखायी गयी कि जब जनक यज्ञभूमि तैयार करने के लिए हल चला रहे थे तो मिट्टी से एक कन्या निकली। सम्भवतः सीता को अयोनिजा बताकर उनकी अलौकिक उत्पत्ति दिखाने के लिए यह कल्पना की गयी। फिर तो सीता के जन्म को लेकर असंख्य अद्भुत आख्यायन गढ़े गये, यहाँ तक कि उन्हें रावण की कन्या तक दिखा दिया गया। आधुनिक चिन्तकों को भी नया मसाला मिल गया। उन्होंने रामकथा को प्रासंगिक दिखाने की झोंक में अनोखी कल्पना की कि सीता किसी नारी की अवैध सन्तान थी, वह उसे खेत में छोड़ गयी थी। किसी ने इस नारी को दलित वर्ग का माना और किसी ने आदिम-जाति का। सीता वैदिक नाम है, वह कृषि की अधिष्ठात्री देवी है। धरती पर जो अविश्वसनीय है या जिन्हें लेकर आक्षेपकर्ता मुखर हो उठते हैं। हल चला रहे थे तो किसी ने सूचना दी कि रानी ने कन्यारत्न को जन्म दिया है। उन्होंने उपर्युक्त नाम-अर्थ के आधार पर अपनी बेटी का नाम सीता रख दिया।

वाल्मीकि-रामायण में बताया गया कि राम सुतीक्ष्ण-आश्रम से आगे बढ़े। वे दस वर्षों तक कई स्थानों पर घूमते रहे। इसके पश्चात् वे सुतीक्ष्ण-आश्रम लौट आये। वाल्मीकि ने इन दस वर्षों के जीवन का चित्रण नहीं किया। मैंने राम को वनवासियों के मध्य प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। दण्डकारण्य का अधिकांश क्षेत्र आज के मध्य-प्रदेश के अन्तर्गत आता है। चित्रकूट से आगे सतना, पन्ना, जबलपुर आदि स्थान होते हैं राम शहडोल (अमरकण्टक) की ओर गये। छोटा नागपुर ही दक्षिण कोसल है। कौसल्या यहाँ की राजकुमारी थीं। सरगुजा, जगदलपुर और बस्तर की कुछ पहाड़ियों, कन्दराओं और झरना-कुण्ड के नाम राम, लक्ष्मण और सीता के नाम पर हैं। पूरे दण्डकारण्य में तथा उसके आगे कोल, बिर्होर, बैगा, कोरबा, जुआंग, बोंडा, कन्ध आदि वनवासी रहते हैं। इनकी कई प्रजातियों में आज भी रामकथा के तत्त्व विद्यमान हैं। मैंने इनकी जीवन-पद्धति और दण्डकारण्य के जीव-वनस्पतियों को भी रामगाथा में स्थान दिया है। पाठकों ने दण्डकारण्य के चित्रण को रोचक और मेरी मौलिकता माना है। मैंने लोकगीतों और लोकतत्त्वों को भी अपनाया है। बचपन से ही मेरी रुचि प्रकृति और जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण तथा विविध शास्त्रों के अध्ययन की ओर रही है। इस प्रवृत्ति की झलक पुस्तक में मिल जाएगी।

कल्पना की गयी कि शबरी ने राम को जूठे बेर खिलाये। यह कल्पना भक्त-हृदय की उपज है। वाल्मीकि या तुलसी ने ऐसा नहीं दिखाया है। वाल्मीकि की शबरी अत्यन्त वृद्धा, ज्ञानवती तापसी है। तुलसी की शबरी राम की विस्वल भक्तिन है, साथ ही समझदार है। मैंने तापसी शबरी को स्वीकार किया है। राम के चरित्र पर आरोप है कि उन्होंने वाली को छिपकर मारा। उन्हें इस आरोप से बचाने के लिए कई कवियों ने कई कारण दिखाये जोकि तर्क-संगत नहीं हैं। गो. तुलसीदास के राम व वाली से कहते हैं कि छोटे भाई की स्त्री और कन्या आदि एक समान होती हैं। तूने सुग्रीव की पत्नी को कृदृष्टि से देखा, इसलिए तू वध के योग्य है। मैं तुलसी के इस तर्क से सहमत हूँ। 'मानस' के एक अन्य स्थल पर तुलसी के एक कथन से स्पष्ट है कि तुलसी सुग्रीव के आचरण से भी प्रसन्न नहीं हैं।

जैहिन अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली।

फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥ 1-29

अर्थात् वाली ने जो कुचाल की थी सुग्रीव ने उसे दो बार किया। यहाँ मैं तुलसी से सहमत नहीं हूँ। सुग्रीव ने वाली की तरह कुचाल नहीं की। वाली मायावी राक्षस को खदेड़ता हुआ कन्दरा में घुस गया था। सुग्रीव कन्दरा के बाहर एक साल तक प्रतीक्षा करता रहा। अन्त में उसे मरा हुआ जानकर वह किष्किन्धापुरी लौट गया था। मन्त्रियों ने उसे राजा बना दिया। वनवासियों और कई जातियों में भाभी का विवाह देवर से कर दिया जाता है। तारा को सुग्रीव की पत्नी बना दिया गया। वाली मरा नहीं था। उसने

लौटकर सुग्रीव की धुनाई की और उसे राज्य से बाहर खदेड़ दिया। वाली ने सुग्रीव के जीवित रहते उसकी पत्नी रूमा को अपनी अंकशायिनी बनाया था। यही उसका पाप-कर्म था। वाली की मृत्यु के पश्चात् तो तारा विधवा थी ही, वह सुग्रीव की पत्नी बनायी गयी। यहाँ किसी नियम का उल्लंघन नहीं हुआ। एक बात और भी है कि तारा स्वेच्छा से सुग्रीव की भोग्य बनी, जबकि रूमा अपनी इच्छा से जेठ की भोग्या नहीं बनी थी।

मुझे एक और बात वाल्मीकि-रामायण से ही मिली है। पहले तो दिखाया गया कि वाली से युद्ध करते समय जब सुग्रीव घबड़ा गया तो राम ने धनुष की प्रत्यंचा खींचकर भयंकर टंकार ध्वनि की, अर्थात् उसे चेतावनी दी। तत्पश्चात् राम ने वाली की छाती पर बाण का प्रहार किया। आगे वालि-वध के स्वरूप पर और भी प्रकाश पड़ता है। वाली के आहत होने पर उसके पक्ष के वानर भाग खड़े हुए। तारा अपने घायल स्वामी के पास आ रही थी। उसने इन वानरों से पलायन का कारण पूछा। वे बोले, “वाली के द्वारा फेंके गये वृक्ष और बड़ी-बड़ी शिलाओं को अपने वज्र जैसे बाणों से विदीर्ण कर राम ने उसे मार गिराया है।”

क्षिप्तान् वृक्षान् समाविध्य विपुलाश्च तथा शिलाः ।  
वाली वज्रसमैर्वाणैर्वज्रेणैव निपातितः ॥ 4.19.12

इससे स्पष्ट है कि वाली ने राम के साथ युद्ध किया था। राम ने उसे छिपकर नहीं मारा था।

मैंने पुस्तक के परिशिष्ट में राम के वन-मार्ग को निर्धारित करने की चेष्टा की है। वाल्मीकि-रामायण के प्रमाण के आधार पर सिद्ध किया है कि कैकेयी सबसे छोटी रानी थी। वाल्मीकि-रामायण में कई स्थलों पर रावण को दशानन दिखाया गया है, किन्तु इससे भी अधिक स्थलों पर उसे एकानन ही चित्रित किया गया है। हनुमान् सीता की खोज में रावण के अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं, उस समय उसके एक सिर और दो भुजाएँ हैं। सीता-हरण के समय भी वह एकानन है। जब राम से युद्ध करते समय वह मारा जाता है, उसकी रानी युद्धक्षेत्र में आकर उसका सिर गोद में लेकर विलाप करती है। यहाँ भी वह एकानन है। मैंने उसे इसी रूप में स्वीकार किया है।

राम से प्रतिशोध लेने का निश्चय कर रावण मारीच के पास गया। उसके रथ में पिशाचों जैसे मुख वाले गधे जुते हुए थे। इस रथ को खग अर्थात् आकाशगामी बताया गया है।<sup>1</sup> क्या गधे भी रथ को लेकर आकाश में उड़ते थे? आगे के छन्द में रथ को विमानमिवविमान जैसा कहा गया है। रावण सीता को पकड़कर रथ पर बिठाता है। जटायु रथ को तोड़कर सारथि और घोड़ों (?) को भी मार डालता है। जटायु को आहत कर रावण सीता को गोद में लेकर आकाश में उड़ता है। विभीषण भी उड़ने की कला में दक्ष है। हनुमान् आदि वानर आकाशमार्ग से जाया करते हैं।

आश्चर्य है कि वानर और राक्षस उड़ने की कला जानते थे, किन्तु राम-लक्ष्मण आदि यह कला नहीं जानते थे। मैंने किसी भी पात्र को आकाश में उड़ते हुए नहीं दिखाया है।

वाल्मीकि-रामायण में शम्बूक-वध प्रसंग एक स्वतंत्र आख्यान है और ऊपर से जोड़ा हुआ है। मेरे रामगाथा उपन्यास में राम किसी शूद्र तपस्वी का वध नहीं करते। शबरी भी तो वर्ण-बहिष्कृता नारी थी। उसने मतंग ऋषि के आश्रम में घोर तप किया था। तब किसी ब्राह्मण के बेटे की मृत्यु क्यों नहीं हुई? राजा दशरथ ने जल पीते पशु के भ्रम में शब्दवेधी बाण से एक तपस्वी को मार दिया था। वह भी तो शूद्र था। उसके द्वारा तपस्या करने पर भी किसी की मृत्यु नहीं हुई। तपस्या-रत शम्बुक का वध वाल्मीकि-रामायण की आधिकारिक कथा की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। तुलसी ने भी इस प्रसंग को ‘मानस’ में स्थान नहीं दिया है।

वाल्मीकि-रामायण का उत्तरकाण्ड प्रक्षिप्त माना गया है। मैंने ‘रामगाथा’ के परिशिष्ट में इस पर विचार किया है। उत्तरकाण्ड में यदि कोई प्रसंग सत्य और मार्मिक हो सकता है तो वह सीता-निर्वासन है। सीता के परित्याग का मुख्य कारण लोकनिन्दा है। वाल्मीकि के पश्चात् के कई कवियों ने सीता-निर्वासन के सात-आठ कारण बताये हैं, जिसमें धोबी-प्रसंग और सीता द्वारा रावण के चित्र का अंकन भी है। ये सभी कारण कल्पित हैं, असत्य हैं। मैंने वाल्मीकि के राम-सीता के मनोभावों को समझने की चेष्टा की है। सीता-निर्वासन एक अत्यन्त कर्तव्यनिष्ठ और प्रजारंजक राजा की विवशता थी। सच में राम ने सीता को नहीं अपने को निर्वासित किया था। वे तिल-तिल कर जलते रहे। उन्होंने किसी अन्य नारी का पाणिग्रहण नहीं किया। धार्मिक अनुष्ठानों में उन्होंने सीता के स्थान पर उनकी कंचन प्रतिमा का विधान किया था। यह प्रसंग लिपिबद्ध करते समय मैं अपने आँसू नहीं रोक पाया हूँ।

रामकथा के कुछ उपेक्षित पात्रों-- उर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति और शत्रुघ्न के विषय में यत्र-तत्र मैंने दो-चार पंक्तियाँ दे दी हैं। इन चरित्रों को अनावश्यक विस्तार नहीं दिया है। स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की है।

वाल्मीकि ने सीता के मांसल सौन्दर्य का निःसंकोच वर्णन किया है। तुलसी की विशेषता है कि उन्होंने श्रृंगार-रस का तन्मयकारी वर्णन तो किया, किन्तु इसमें कहीं विकार नहीं है। मैंने यहाँ तुलसी के मर्यादावाद से प्रेरणा लेने का प्रयास किया है।

मधुमक्खी अनेक फूलों का पराग संग्रह कर उसे मधु (शहद) में परिणत कर देती है। तुलसी ने लगभग 300 ग्रन्थों के महत्त्वपूर्ण तत्त्व संगृहीत कर उन्हें कौशल के साथ ‘मानस’ में समाविष्ट किया है। मैं पिछले पचास वर्षों से असंख्य रामकथाओं का अध्ययन करता रहा हूँ। मैंने कुछ ग्रन्थों के कतिपय मार्मिक या रोचक प्रसंगों को सहज स्वीकार किया है, इससे रामकथा की ऐतिहासिकता कहीं खण्डित नहीं होती। संस्कृत वाङ्मय के कुछ विशेष शब्द जो हिन्दी में अप्रचलित हैं, रामगाथा में प्रयुक्त हुए हैं,

जैसेकि *अनातुर-उत्कण्ठित-रति-कर्म* के लिए *अनिच्छुक-इच्छुक*, *राजकर्तार* को सिंहासन पर बैठाने अथवा उतारने वाले विद्वज्जन, *कवचधर*स्युवावस्था आने पर किसी योद्धा द्वारा कवच धारण करना, आदि।

मैं अपनी शक्ति और सीमा जानता हूँ। मैं महर्षि वाल्मीकि और गो. तुलसीदास के चरणों की धूलि तक नहीं हूँ। मैंने उन्हीं के महत्कार्य को थोड़ा-सा आगे बढ़ाया है। अन्त में प्रातः स्मरणीय दोनों तपस्वी महाकवियों के चरण-कमलों का स्मरण कर अपना वक्तव्य शेष करता हूँ।

**रामगाथा** उपन्यास राजपाल एण्ड सन्स द्वारा प्रकाशित और गुजराती तथा अंग्रेजी में अनूदित है।

## बिहार आन्दोलन की शव-परीक्षा

डॉ. रामजी सिंह\*

बिहार आन्दोलन के फलाफल के विषय में चाहे जो भी विचार भेद हों लेकिन इसके युगान्तरकारी और ऐतिहासिक महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। कांग्रेस को अपदस्थ करने के लिये तो 1952 से ही राजनैतिक व्यायाम किये जा रहे थे। 1967 में तो गैर-कांग्रेसवाद काफी फला-फूला भी लेकिन यह 1974 के आन्दोलन का ही प्रत्यक्ष या परोक्ष परिणाम था कि कांग्रेस की अजेय सत्ता को इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिया गया यहाँ तक कि बंगला देश युद्ध की “राष्ट्र भवानी” इन्दिराजी को और उनके वारिध संजय गांधी को शर्मनाक पराजय का दृश्य देखना पड़ा। लेकिन इतना होने पर भी बिहार आन्दोलन को केवल राजनीतिक बताना इसके साथ नाइंसाफी होगी। मेरी विनम्र राय में बिहार आन्दोलन का चरित्र मूलतः सांस्कृतिक था, राजनीति या सत्ता-संघर्ष में इसकी भागीदारी इसका एक अनिवार्य भटकाव था जो मूलरूप से इसके पराभव का कारण बना।

इतिहास साक्षी है कि बिहार आन्दोलन का बीज न तो किसी अखिल भारतीय स्तर के राजनैतिक दल या दलों के गठबंधन की प्रेरणा से था, यह तो विशुद्ध रूप से बिहार के छात्रों के संगठनों के पटना में एक जमघट से उत्पन्न हुआ। उसी में 12 सूत्री मांगे स्वीकृत हुई जिसमें छात्रों की खास मांगों के अलावे आम जनता की मांगों को शामिल किया गया, जिसमें गरीबी, बेकारी, मँहगाई, भ्रष्टाचार एवं शिक्षा में परिवर्तन मुख्य थे। इसमें स्पष्टरूप से न तो गैर-कांग्रेसवाद का भूत परिक्षित हुआ था, न इसमें किसी मुख्यमंत्री या प्रधानमंत्री के इस्तीफे की माँग शामिल थी। संगठन की दृष्टि से भी विचार करें तो राज्य से लेकर जिला, नगर आदि तक छात्र-संघर्ष समितियाँ ही आन्दोलन के संगठन और वाहन बने। नेतृत्व भी छात्र-संघर्ष-समिति के नेताओं का था जिसमें किसी एकदल के ही लोग नहीं थे। सर्वोच्च नेता भी माना जाय तो जयप्रकाश नारायण ही थे जो पूर्णतः निर्दलीय थे। उन्हें भी बिहार आन्दोलन में 18 मार्च के बाद छात्रों के आग्रह पर ही आना पड़ा। छात्र-संघर्ष समितियों की ओर से शुरु में कुछ दिनों तक तो स्पष्टतः किसी राजनीतिक दल के नेताओं को नेतृत्व हथियाने का अवसर नहीं

\*प्रोफेसर रामजी सिंह पी-एच.डी.,डी.लिट्. (दर्शन एवं राजनीति), चिन्तक, पूर्व सांसद, पूर्व कुलपति, जैन विश्वभारती, पूर्व निदेशक, गांधी विद्या संस्थान, वाराणसी हैं।

दिया जाता था। बिहार प्रदेश छात्र संघर्ष की समन्वय समिति के संयोजक भी श्री भवेश चन्द्रजी ही थे जो गांधी और सर्वोदय परिवार से जुड़े हुए व्यक्ति थे। ये गांधी स्मारक निधि के कार्यकर्ता एवं तरुणा शांति सेना से जुड़े थे। निष्कर्ष यही है कि यह आन्दोलन आरम्भ में पूर्णतः निर्दलीय था, जिसको जे. पी. के प्रवेश से अहिंसक होने का आशीर्वाद मिल गया। इन दो कारणों से मेरा मानना है कि बिहार आन्दोलन एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण का आन्दोलन था। यही कारण था कि इसके साथ जनाकांक्षा और जन समर्थन जुड़ गया। यह ठीक है कि स्वार्थ के कारण विरोधी दलों ने इसका साथ दिया लेकिन इसे विरोधी दलों के गठबन्धन का आन्दोलन नहीं कहा जा सकता है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने तो शुरू से ही इसका विरोध कर सत्ताधारी कांग्रेस का साथ दिया और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का समर्थन मुद्दों पर आधारित था। असल में राजनितिक दलों की विश्वसनीयता इतनी नहीं थी कि उसे पूर्ण जनसमर्थन मिल सके। इस व्यापक जन-आकांक्षा और जन-समर्थन का चरित्र दलीय तो नहीं ही था, राजनितिक भी नहीं था। यदि ऐसा नहीं होता तो इमरजेन्सी की मार, अखबारों पर पाबन्दी, हजारों-लाखों कार्यकर्ताओं एवं नेताओं को एक लम्बे अरसे तक मीसा, डी. आई. आर. लगाकर कारागारों में बन्द कर उनकी सामान्य राजनैतिक गतिविधियों को बन्द किये जाने के वावजूद भी जब 1977 में निरापद समय में चुनाव हुआ तो उसके परिणाम से दुनिया अचंभे में पड़ गयी। भारत की आम जनता के बारे में यह साफ हो गया कि न तो वह नासमझ है और न तो इमानदारी की उसमें कमी है। जनता ने चुनाव परिणाम की घोषणा की अपनी मंशा को भी प्रकट नहीं होने दिया वर्ना चुनाव की घोषणा भी घोषणा तक रह जाती और, चुनाव होते भी नहीं। जनता ने लोकशाही और तानाशाही के बीच चुनाव किया। 1977 के आम चुनाव में न तो जनता पार्टी ही ठीक से बन पायी थी, न कोई उम्मीदवार साधन-सम्पन्न होकर चुनाव के मैदान में खड़ा हुआ। चुनाव का सारा आयोजन, प्रचार प्रसार, मतदान केन्द्रों का इन्तजाम, मतदाताओं को शिक्षण-प्रशिक्षण आदि स्वयं स्फूर्त जनअभिक्रम का परिणाम था। बिहार जैसे जाति-ग्रथित समाज में 1977 के चुनाव में उम्मीदवारों की न जाति की जानकारी की गयी और न हिन्दू-मुसलमान का भेद किया गया। अतः 1974-77 के बिहार आन्दोलन को राजनीतिक आन्दोलन की संज्ञा देना एक दमित पूर्वग्रह तो है ही, इसमें जनता का भी अपमान है। असल में यह चुनाव नहीं जनता की आशाओं और आकांक्षाओं का तूफान था। जिसमें जाति, सम्प्रदाय, दल सब तिरोहित हो गये थे, केवल एक ही सत्य था लोकतंत्र, जनता की आजादी। शायद स्वराज्य के आन्दोलन में भी अपनी इतनी प्रबल इच्छा-शक्ति और अपना संकल्प प्रदर्शित नहीं किया होगा, वर्ना देश की आजादी इतने विलम्ब से नहीं आती। माना कि बिहार विधान सभा के भंग की मांग को प्रत्यक्षतः राजनीतिक मुद्दा कहा जा सकता है, लेकिन यह न तो बिहार आन्दोलन का आदिपर्व है न इसे इसका स्वर्गारोहण-पर्व ही मान सकते हैं। जिस

प्रकार “स्वराज को अपना जन्म सिद्ध अधिकार” समझते हुए भी अंग्रेजों भारत छोड़ो का नारा देना पड़ा लेकिन स्वराज्य ही हमारा आदर्श था। उसी प्रकार सम्पूर्ण क्रांति ही बिहार आन्दोलन का ध्रुवतारा था, चुनाव तो मध्यान्तर था जिसे हम अपरिहार्य भटकाव की संज्ञा दे सकते हैं। यों राजनीति कोई अस्पृश्य वस्तु नहीं है और उसके कायाकल्प करने की भी आन्दोलन में संभावना थी। जे. पी. बराबर ही शांतिमय और शुद्ध साधनों के उपयोग पर बल देते रहे। राजनीति बुरी नहीं है, कुछ राजनेता बुरे या भ्रष्ट हो सकते हैं। इस आन्दोलन ने जनता को समझाने की कोशिश की कि सिद्धांत के आधार पर चुनाव लड़ना चाहिये। इसका अर्थ है कि राजनीति में भी नैतिकता संभव है। जनक, राम, गांधी और जयप्रकाश की राजनीति की परम्परा में हर समय नैतिकता का स्थान है। यही भीष्म या बिदुर का राजधर्म है। गांधी ने जिसे राजनीति का अध्यात्मीकरण कहा, उसी को जे. पी. ने अपनी विनम्र वाणी में अच्छाई की राजनीति कही और बिहार आन्दोलन को भी शांतिमय और शुद्ध साधनों की विरासत दी। फिर बिहार आन्दोलन में राजनीति ही सब कुछ नहीं थी। इतने बड़े आन्दोलन को और जीवंत बारूद की तरह इन लाखों नौजवानों को शांतिमयता में रखना जे. पी. का ही कौतुक या चमत्कार कहा जा सकता है। गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन के समय भी तो चौरीचौड़ा में हिंसा फूट ही पड़ी थी और सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में तोड़-फोड़ और हिंसा कितनी हुई, यह सबको ज्ञात है। यह ठीक है कि सारे नेता जेल में थे और अंग्रेजी सरकार ने ही झूठा प्रचार करके कि आन्दोलन में तोड़-फोड़ आदि के कार्यक्रम थे, लोगों को उन कृत्यों के लिये उकसाया। उसकी तुलना में बिहार के विराट एवं व्यापक आन्दोलन में केवल एक पुलिस-कर्मी की जान गयी, जिसके लिये जे. पी. ने सार्वजनिक रूप से क्षमा मांगी और उस दुखी परिवार को आन्दोलन की ओर से कुछ सहायता देकर प्रायश्चित भी किया। बिहार विधान सभा से स्वेच्छया सदस्यता से इस्तीफा प्राप्त करने में महज दो-तीन माननीय विधायकों के साथ अति उत्साह के कारण कुछ छात्रों ने अच्छा व्यवहार नहीं किया लेकिन न तो जे. पी. की तरफ से इसके लिये स्वीकृति थी, न आयोजन का ही अनुदेश था। विद्यार्थियों के समूह जैसे ज्वलनशील तत्व को लेकर 5 जून 1974 की अपार प्रदर्शन पर एक विधायक के घर से गोली दागी जाने पर भी “हमला चाहे जैसा हो हाथ हमारा नहीं उठेगा” का ही स्वर गूँजा था। असल में जे.पी. मैकियाविली के तर्ज पर ‘अन्त भला तो सब भला’ की मूल्यविहीन राजनीति के विकल्प में मूल्याधारित राजनीति का बीज निरूपण कर रहे थे। राजनीति अपने आप में यदि खराब रहती तो जनक, राम और गांधी भी उससे अलग रहते। राजनीति तो सर्प की उस कुंडली तरह है जिससे हम बच नहीं सकते। सर्वे धर्म राजधर्मा निमग्नाः। इसलिये राजनीति के प्रति अस्पृश्यता का भाव नकारात्मक तो है ही एकांगिता भी उसमें कम नहीं है। सर्वोदय आन्दोलन बिहार दान की माया में भूल गया कि समाज की ज्वलन्त समस्यायें क्या हैं?

केवल भूदान एक सरलीकरण है। जे.पी. ने राजनीतिक दलों के संकीर्ण धरौंदे से राजनीति को निकालकर विशाल प्रांगण में खड़ा किया जिससे लोकतंत्र दलवाद एवं दलतंत्र का पर्यायवाची न बन जाय। विरोधी दलों के सिद्धान्तहीन राजनीति को ध्वंस कर एक राष्ट्रीय विकल्प के रूप में जनता पार्टी एवं उसके घोषणा पत्र को रखा जो केवल राजनैतिक नहीं सांस्कृतिक मसविदा भी कहा जा सकता है। प्रयोग के उस प्रथम चरण में पूर्णतः दलविहीन जनतंत्र की स्थापना अभी तक अव्यावहारिक थी। इसलिये पार्टियों के ध्रुवीकरण, विरोधी दलों की एकजुटता, समवेत जनान्दोलन आदि उसी के व्यायाम हैं। फिर जमीनी जनतंत्र के रूप में जनता सरकार का भी आन्दोलन चल रहा था, हालाँकि वह अपनी शैशवावस्था में ही रहा। जे. पी. के बार-बार जोर देने पर भी जनता सरकार का प्रयोग ज्यादा नहीं हो सका।

जनता-पार्टी की सरकार की आलोचना करने वाले यह भूल जाते हैं कि इसने सत्तारूढ़ होने के मात्र एक सप्ताह के भीतर लोकपाल, दल-बदल विधेयक, आकाशवाणी की स्वायत्तता, चुनाव आदि कानूनों में संशोधन आदि अनेक बिलों को केवल प्रस्थापित ही नहीं किया था बल्कि उन्हें पारित भी कर सकती थी। लेकिन उस मनोवैज्ञानिक ऐतिहासिक समय का पूरा उपयोग नहीं हो सका। काम का अधिकार लागू करने की मजबूरियाँ थी किन्तु इस अहम सवाल को कालबद्ध ढंग से तो लागू किया जा सकता था। यदि यह उसी क्षण हो जाता तो आज इस बेरोजगारी के दानव से हम राहत पा सकते थे और आतंकवाद पर भी स्वतः नियंत्रण होता। इसी तरह प्रतिनिधियों के वापसी के अधिकार पर भी विधेयक जनता पार्टी की सरकार लाने के लिये साहस नहीं जुटा सकी। असल में सत्ता के मोह में वे सच्ची क्रांतिकारिता को भूल गये। फिर भी जनता पार्टी के घोषणा पत्र के राजनैतिक-आर्थिक मुद्दों पर सरकार ने प्रभावकारी कदम उठाया। आर्थिक क्षेत्र में काम के बदले भोजन गांवों को बैंक द्वारा कर्ज देने-दिलाने, अन्त्योदय योजना आदि कार्यक्रमों से ग्रामीण रोजगार बढ़े। किन्तु बड़े बुनियादी आर्थिक सवाल जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति को ट्रस्टीशिप में रूपान्तरण आदि की ओर साहसिक कदम नहीं उठ सके। चुनाव कानूनों में अगर उस समय क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाते तो आज जो कालेधन की करतूत एवं राजनीति के अपराधीकरण से राष्ट्र परेशान है, नहीं होता। फिर तो चुनावों में 1977 के आमचुनाव के बाद पूंजीपतियों के पैसे के खेल, जातिपाँति के जोड़तोड़, लाठी डंडे का आधार चलता रहा जिसका दुष्परिणाम आज सामने हैं।

असल में बिहार आन्दोलन की छोटी अवधि में न तो विचारों का क्रांतिकारी परिपाक बन सका और सत्ता एवं संगठनों में क्रांतिकारी कार्यकर्ताओं एवं व्यक्तियों को अवसर दिया गया। कुछ दिनों के बाद क्रांति की धार जब कुंद हो गयी तो इसके नेतृत्व, संगठन और कार्यक्रमों में कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं लाया जा सका। जनता पार्टी के अध्यक्ष पद पर चन्द्रशेखर जी आकर भी कोई क्रांतिकारी परिवर्तन करने के

बदले भविष्य की सत्ता अधिग्रहण के समीकरण में आंध्र एवं कर्णाटक के पुराने कांग्रेसी विधायकों को ही जनता का टिकट देकर बंटाने का काम कर दिया। बिहार आन्दोलन का दूसरा दोष इसकी संरचना में थी। चुनाव की चुनौती से जूझने के लिये सभी विरोधी राजनैतिक दलों का ध्रुवीकरण तो हुआ लेकिन उसका रस-परिपाक नहीं होने से दलवाद के बदले घटकवाद का भूत सामने आया। यही कम नहीं था कि जे. पी. के विराट व्यक्तित्व एवं विशाल हृदय के कारण जनसंघ, भालोद, संगठन कांग्रेस, समाजवादी एवं छात्र नेता एक झंडे या संगठन के नीचे तो आ गये लेकिन अन्दर से अपना-अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये अपने संगठन, अपने कोष, अपने नेतृत्व के प्रति सजग रहे। नारंगी जैसे ऊपर से एक रहती है किन्तु उसके कई फलक रहते हैं, वही हालत जनता पार्टी की भी थी। राजनैतिक पार्टियों को भंग करके एक समूह में मिल जाना सचमुच क्रांतिकारी था लेकिन अपने विद्यार्थी, मजदूर, किसान, आदि संगठनों को अलग रखकर अपना-अपना अस्तित्व बनाये रखना ही एकता के प्रयास के प्रति गददारी थी। सी.पी.आई. तो खैर, सत्ताधारी दल याने कांग्रेस के साथ रही, सी.पी.एम. के भी आन्दोलन के प्रति खंडित रूख रहा। आन्दोलन की अगली पंक्तियों में तो वे कभी नहीं आये, चुनाव में भी अलग अस्तित्व रखा। जे.पी. ने जिस ईमानदारी और व्यापकता से मध्यवर्ती लोकतांत्रिक दलों को एक किया, उस ईमानदारी से घटकों ने उसका प्रत्युत्तर नहीं दिया। इसका नुकसान धीरे-धीरे सबों को भुगतना पड़ा।

जनता सरकार के गठन के समय ही नेतृत्व के सवाल पर शनिश्चर का प्रवेश हो गया था और मोरारजी, जगजीवन राम एवं चौ. चरण सिंह के बीच मतभेद उभर कर आ गये। चौधरी चरण सिंह ने कैकेयी की तरह अस्पताल में खटवास तो लिया ही, साथ-साथ जगजीवन राम प्रधानमंत्री नहीं बनें, यह घोषित कर दिया। इस प्रकार मोरारजी को प्रधानमंत्री के रूप में मनोनीत करना जे.पी.-कृपलानी की मध्यस्थता के लिये अपरिहार्य था। मोरारजी काफी अनुभवी, कुशल तथा तपे-तपाये भी थे लेकिन कई नेताओं को उनके प्रति गलत-सही पूर्वाग्रह भी थे। फिर चौधरी चरण सिंह जो सामाजिक न्याय के सशक्त दावेदार थे, उन्हें लगा कि उनके प्रति अन्याय हुआ। अतः मोरारजी के खिलाफ समाजवादी और चौधरीवादी एकजुट होकर तब तक हमला करते रहे जब तक उन्होंने इस्तीफा नहीं दे दिया। मोरारजी ने इतने अन्तर्कलह के बावजूद काफी अच्छी तरह से बिना हस्तक्षेप एवं घोटाले के शासन चलाया। जनता पार्टी के घोषणा पत्र की राजनैतिक प्रतिज्ञाओं को भरसक पूरा किया। हाँ प्रतिनिधियों की वापसी के अधिकार को उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव की और काम के अधिकार को बिना संविधान में लाये 10 वर्षों के भीतरपूरा करने का आश्वासन भी दिया और उस दिशा में सार्थक प्रयत्न भी किया। चाहे जितनी भी आलोचनायें हों, लेकिन मुद्रास्फीति एवं मंहगाई पर काफी नियंत्रण था, खादी-ग्रामोद्योग पर जोर था, शराबबन्दी के लिये भी ईमानदार एवं कालबद्ध प्रयत्न हो रहे थे, विदेश



नीति में पहली बार पड़ोसियों के साथ बेहतर सम्बन्ध स्थापित हुए। शिक्षा के क्षेत्र में भी वयस्क शिक्षा पर कालबद्ध प्रयत्न हो रहे थे, किसानों का राहत थी, आदि-आदि। केवल एक बात कुछ लोगों को खटकती थी कि मोरारजी भाई ने अपने मंत्रिमंडल में संगठन कांग्रेस के लोगों को अनुपात से कुछ ज्यादा लिया। इसके चाहे जो भी कारण रहे हों, यह बात लोगों को अखर गयी।

अंत में हमसे लोग पूछ सकते हैं कि बिहार आन्दोलन की वैचारिक एवं वास्तविक क्या-क्या मुख्य उपलब्धियाँ हैं?

बिहार आन्दोलन ने जनता के सभी वर्गों को और खासकर नयी पीढ़ी को जगा दिया और लोकतंत्र के प्रति इतना प्रतिबद्ध बना दिया कि भविष्य में कोई भी सत्ता यहाँ के नागरिकों के नागरिक अधिकारों का अतिक्रमण करने का दुस्साहस नहीं कर सकेगी। जिस इंदिराजी को 1977 में लोकतांत्रिक अधिकारों के निर्दमन के जुर्म में इतिहास के गर्त में भेज दिया था, उसी जनता ने जनता पार्टी के नेताओं को अंतर्कलह के अपराध में 1980 के चुनाव में छठी का दूध याद कराकर इंदिराजी को उसी गद्दी पर लौटाया। जिन हस्तियों को जमकर जनता ने प्यार किया था उन्हींको उनकी गलतियों के कारण डंड भी दिया। कहा ही जाता है कि शाश्वत जागरूकता ही स्वतंत्रता की कीमत है। जहाँ जनता जागरूक नहीं होती, वहीं लोकतंत्र समाप्त होने लगता है। जागरण से ही जनशक्ति पैदा होती है और वही लोकतंत्र की ताकत है। शाश्वत जागृति ही स्वतंत्रता का प्राण है। आज भारत के अलावे एशिया-अफ्रीका के देशों में कुछ अपवादों को छोड़कर लोकतंत्र के बदले सैनिक तानाशाही या छद्म वैधानिक तानाशाही इसलिये चल रही है कि बिहार आन्दोलन की भाँति सत्ता की तानाशाही के खिलाफ जनता जग नहीं पाई, उठ नहीं पायी। यही कारण है कि आपात्काल लागू करने की कोई भी भारतीय सरकार उसके बाद दुस्साहस नहीं कर पायी है। उसे भय हो गया है कि जनता के मूलभूत अधिकारों का दमन करने की सजा क्या हो सकती है। संक्षेप में बिहार आन्दोलन भारतीय लोकतंत्र का रक्षक है।

बिहार आन्दोलन का क्षितिज केवल सत्ता-परिवर्तन तक नहीं रहा, जैसा कि परम्परागत राजनीतिक उथल-पुथल का होता है। राजनीतिक आन्दोलन का परम लक्ष्य सत्ता-परिवर्तन रहता है, जबकि सम्पूर्ण क्रांति उससे बहुत आगे हैं। भले ही सम्पूर्ण क्रांति की दिशा में बहुत कम प्रगति हुई लेकिन बिहार आन्दोलन की राजनीति का लक्ष्य सम्पूर्ण क्रांति ही माना जाता है जिससे सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, शैक्षिक आदि क्रांतियाँ भी समाहित हैं। जिस तरह गांधीजी ने स्वतंत्रता संग्राम में आजादी से बढ़कर स्वराज्य या रामराज्य का आदर्श रखा था उसी प्रकार बिहार आन्दोलन का भी लक्ष्य सम्पूर्ण क्रांति है एवं रहेगा। बिहार आन्दोलन के क्रम में सम्प्रदायवाद का भूत कही नहीं उभर सका और जातिवाद का भी बहुत दूर तक शासन हुआ। उत्साह में सवर्णों ने जनेऊ भी तोड़ कर द्विजत्ववाद को एक धक्का दिया। अनेकों नौजवानों ने अतिजातीय विवाह किये। नारी की भी अस्मिता जगी एवं गांधीजी के स्वराज्य

आन्दोलन के बाद इतनी स्त्रियाँ इस प्रकार के संघर्ष में कभी नहीं आयीं।

बिहार आन्दोलन की एक बड़ी विशेषता है कि इसमें नया बिहार बनाने की उत्कंठा भी जागृत हुई। यह बिहार का दुभाग्य है कि यहाँ शस्य श्यामला धरती, रत्नगर्भा वसुन्धरा, गंगा, गंडक, बागमती आदि दर्जनों जल प्रवाहित नदियों के रहते हुए भी विकास के मामले में यह राज्य पिछड़ा रहा। इसके पीछे इसका मानव-यंत्र एवं सामाजिक प्रबंधन दोषी रहा। सामन्तवाद और जातिग्रथित समाज इसका मूल कारण रहा। लार्ड कार्नवालिस के समय जो चिरस्थायी प्रबन्ध व्यवस्था लागू हुई उसने जमीन का स्वामित्व बड़े-बड़े भूपतियों के हाथों में दे दिया जो बहुतायत से ऊँची जातियों के थे। इसका दुष्परिणाम हुआ कि यहाँ आर्थिक सामंतवाद के साथ सामाजिक सामंतवाद का मिश्रण हो गया। यह इसके पिछड़ापन का आन्तरिक कारण रहा। बिहार आन्दोलन ने इन दोनों को जबर्दस्त धक्का दिया। जमीनदारी प्रथा का उन्मूलन तो हो गया था लेकिन फर्जी स्वामित्व चल रहा था। विनोबा-जे.पी. के भूदान-ग्रामदान आन्दोलन से भूस्वामित्व पर गहरा प्रहार अवश्य हुआ। 21 लाख एकड़ जमीन यहाँ दान में मिली जिसमें 10 लाख एकड़ तो वितरण योग्य थी। किन्तु इसके वावजूद सामाजिक स्तर पर सामंतवाद कायम था। बिहार आन्दोलन ने सांस्कृतिक जागरण के द्वारा इस जीर्ण-शीर्ण आर्थिक-सामाजिक सामंतवाद पर प्रहार किया, जिसका असर हम आज सामाजिक न्याय की राजनीति में पाते हैं। यह ठीक है कि इसमें मध्यम एवं निम्न जातियों के जातिवाद का अवगुंठन पैदा हुआ। लेकिन सदियों के इस सामंतवाद को समाप्त करने के लिये सर्व समावेशक सांस्कृतिक आन्दोलन ही जरूरी था जिसमें हिंसक वर्ग-संघर्ष भी नहीं हो और वर्ग-कटुता कम से कम हो। बिहार आन्दोलन में एक साथ मध्यम एवं निम्न जातियों से अनेकों नेता पैदा हुए जिनसे जातीय स्वाभिमान एवं राजनीतिक नेतृत्व भी पैदा हुए। आज बिहार में प्रथम श्रेणी का नेतृत्व बिहार आन्दोलन की देन है।

बिहार आन्दोलन के मूल्यांकन में हम अक्सर इसके नैतिक और आध्यात्मिक आयामों को भूल जाते हैं, जिन्हें जे.पी. ने बड़े कौशल के साथ आन्दोलन में निरूपित किया था। सम्पूर्ण क्रांति में विचार क्रांति और नैतिक आध्यात्मिक क्रांति को सगुण रूप में प्रतिष्ठित किया गया जिसका परिणाम रहा कि यह आन्दोलन इतना व्यापक होते हुए भी अहिंसक और शांतिमय रहा। भ्रष्टाचार पर वैचारिक एवं सार्वजनिक रूप से प्रहार हुआ। हजारों नौजवान एक-एक वर्ष की अपनी पढाई छोड़कर समाज-सेवा में कूद गये। जे.पी. के नेतृत्व में ही नैतिक एवं आध्यात्मिक तत्व थे। जे.पी. ने शुद्ध साधनों से समाज परिवर्तन पर जोर दिया, यह भी इसके नैतिक होने का आधार रहा।

## उपसंहार

आज हम बिहार आन्दोलन का जितना भी बुरा-भला कहें लेकिन 1921 के असहयोग आन्दोलन एवं 1942 के जनान्दोलन के बाद इतना बड़ा जनान्दोलन भारत

में नहीं हुआ, यह स्वीकार करना होगा। जहां परिवर्तन की लहर नहीं चलती, वह समाज सड़ जाता है। बिहार आन्दोलन ने केवल सत्ता में परिवर्तन ही नहीं पैदा किया बल्कि देशभर में परिवर्तन की राजनीति पैदा की। देश में जातिवाद सम्प्रदायवाद दोनों का स्वरूप कुछ अंश तक बदला। जिस जातिप्रथा को भगवान महावीर एवं भगवान बुद्ध भी हिला नहीं पाये थे, जे.पी. ने सबों को साथ लेकर उसपर प्रहार किया, यह क्रांति की नयी तकनीक मानी जायगी। मुझे तो लगता है कि यदि बिहार आन्दोलन नहीं हुआ रहता तो जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद की संरचना और भी अग्राह्य होती।

बिहार आन्दोलन ने हमें यह भी सिखाया कि हमारे विचार थोड़े बहुत भिन्न भले ही हों लेकिन हम मिल-जुलकर परिवर्तन-यज्ञ में भाग ले सकते हैं। क्रांति में एकान्तवाद के बदले जे.पी. ने अनेकांतिवाद को प्रतिष्ठित किया, यह एक अभिनव प्रयोग है। आज भी जे.पी. की जन्म शताब्दी समारोह में भाजपा और गैर भाजपा के लोगों ने एक दूसरे से बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया।

भारत के विकास और भारतीय मनीषा के परिवर्तन को हम बिहार आन्दोलन की सर्वसमावेशक विद्या के द्वारा ही सफल कर सकते हैं। संकीर्ण सम्प्रदायवाद यदि सांस्कृतिक फासीवाद को बढ़ा सकता है तो संकीर्ण जातिवाद सामाजिक घृणा और अराजकता का जनक होगा। लेकिन भारत जैसे सामासिक समाज में इन दोनों एकान्तिक धाराओं में कोई सीमा लांघ नहीं सकता। उसे बुद्ध एवं जे.पी. की तरह मध्यम मार्ग अपनाना ही होगा। बल्कि मुझे तो लगता है कि देश में न तो सम्प्रदाय की राजनीति का भविष्य है, न जातिवाद का वर्चस्व चलने वाला है।

इसी प्रकार देश में वैश्विक पूंजीवाद और सैद्धान्तिक समाजवाद-साम्यवाद दोनों एकान्तिक धारार्य हैं। इन दोनों का समन्वय आवश्यक है। यदि हम विकास की धारा को रोकेंगे तो राष्ट्रीय क्षति होगी लेकिन यदि हम सामाजिक के साथ आर्थिक न्याय के रथ को रोकेंगे तो खूनी क्रांति को निमंत्रण देने के बराबर है। बिहार आन्दोलन ने व्यावहारिकता के आधार पर जो आर्थिक नियामक तैयार किये थे जिसे जनता पार्टी के घोषणा-पत्र में शामिल किया गया था, उन्हें ही हमें कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार करना होगा।

शिक्षा की क्रांति बिहार आन्दोलन का एक प्रमुख मुद्दा था लेकिन समयाभाव एवं समस्या की जटिलता के कारण इस दिशा में बहुत कम काम हो सका। आज तो देश में शैक्षणिक अराजकता है। निःशुल्क शिक्षा दिवास्वप्न है। समान शिक्षा के बदले वर्गीय शिक्षा प्रयसित है। शिक्षा तो निहित स्वार्थ एवं सुविधाप्राप्त वर्गका यंत्र हो गयी है। अतः इस सम्बन्ध में बिहार आन्दोलन के बचे-खुये लोगों को अभिक्रम लेकर एक नयी शिक्षा योजना तैयार करने का दायित्व है। शिक्षा ही वह उपकरण है जो विचार क्रांति और सांस्कृतिक क्रांति की जननी है।

## मणिपुर में इतिहास लेखन कला

श्रीधर नारायण पाण्डेय\*

भारत में इतिहास लेखन कला बहुत पुरानी है। पर उत्तर/पूर्व के राज्यों में इतिहास लेखन की प्रक्रिया बहुत देर से शुरू हुई। असम को छोड़ अन्य राज्यों में लोग इतिहास लेखन की कला से अनभिज्ञ थे। उत्तर/पूर्व भारत के सभी राज्य सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समृद्ध हैं। इस क्षेत्र में अति प्राचीन काल से ही दक्षिण पूर्व एशिया और चीन से विभिन्न जन-जातियाँ आकर बसती रही हैं। ये सब पहनावे, रहन-सहन, रीति-रिवाज, धर्म, परम्परा, भाषा और विश्वास में एक दूसरे से भिन्न हैं। इन सबका अलग इतिहास है। परन्तु इनका आदि-कालीन इतिहास अभी भी पूरी तरह से प्रकाश में नहीं आया है। इन क्षेत्रों में मानव की प्रारम्भिक गतिविधियाँ अभी भी पृथ्वी के गर्भ में दफन हैं। निस्सन्देह कुछ छिटपुट पुरातात्विक उत्खनन हुये हैं, लेकिन पूरे उत्तर-पूर्व के राज्यों में पुरातात्विक शोध समग्र रूप से नहीं हो पाया है। पर अभी तक के पुरातात्विक शोधसे यह स्पष्ट हो चुका है कि मानव की प्राचीन सभ्यता का यहां अस्तित्व था। प्राचीन भारत के साहित्यिक श्रोत असम का भारत के साथ घनिष्ठ सम्पर्क की पुष्टि करते हैं।

दक्षिण पूर्व एशिया से ताइ आये, जिन्होंने असम में अपना राज्य तेरहवीं सदी में ही स्थापित कर लिया था। इस जाति का नाम अम था, इन्होंने असम में 600 वर्षों तक शासन किया। तदुपरान्त अंग्रेजों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अम राजाओं ने अभिलेखों को लिपिबद्ध कराने की परम्परा बनाई। इन अभिलेखों को बुरन्ज नाम से जाना जाता है। त्रिपुरा और मणिपुर में भी इस परम्परा का अस्तित्व था। त्रिपुरा में राजमाला और मणिपुर में चित्रील कुमबावा उपलब्ध हैं, जो वहां के राजाओं के युद्ध तथा अन्य गतिविधियों का विवरण देते हैं। इन अभिलेखों में कई सदियों का विवरण मिलता है, जो इतिहास लेखन के महत्त्वपूर्ण श्रोत हैं।

असम में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही इतिहास लेखन की नींव पड़ चुकी थी। अंग्रेजी शासन काल में ही कामरूप अनुसंधान समिति की स्थापना सन् 1912 ई. में हो चुकी थी। स्वाधीनतापूर्व सन् 1945 में के एम बरूआ तथा एडवर्ड गेट ने 'दी अर्ली हिस्टी आफ कामरूप' प्रकाशित किया। सन 1948 ई. में गौहाटी विश्वविद्यालय की

\*श्रीधर नारायण पाण्डेय मणिपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के पूर्व आचार्य एवं विभागाध्यक्ष हैं।

स्थापना हुई, जिससे इतिहास लेखन को एक नई दिशा मिली। स्नातकोत्तर अध्ययन तथा शोध की ओर बहुत सारे विद्यार्थी आकर्षित हुए। सन् 1949 ई. में एस. के. भुईया द्वारा लिखित 'ऐंग्लो असामीज रिलेसन्स' का प्रकाशन हुआ। के. एन. दत्त की पुस्तक 'लैन्डमार्क ऑफ फ्रीडम स्ट्रगल इन आसाम' प्रकाशित हुआ। आसाम में इतिहास लेखन की प्रक्रिया को डा. एच. के. बरपुजारी ने देश और विदेश में मान्यता दिलाई। इतिहासकारों में डा. बरपुजारी को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली और इनके द्वारा लिखित पुस्तकें असम के इतिहास पर श्रेष्ठतम श्रेणी की मानी गईं। बरपुजारी द्वारा लिखित पुस्तकों में 'आसाम इन दी डेज ऑफ कम्पनी' और 'पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ आसाम' को अग्रणी कृति माना जाता है।

मणिपुर उत्तर-पूर्व भारत में बर्मा की सीमा पर अवस्थित सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। अंग्रेजों के आने के पूर्व नागा तथा मिजोरम से अलग जो अभी तक जनजातीय अवस्था में थे मणिपुर में विकसित सामन्ती राज्य तथा सम्पन्न साहित्य शताब्दियों से चला आ रहा था। मणिपुर में भारतीय संस्कृति की जड़ें बड़ी गहरी हैं। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में, मणिपुर में राष्ट्रीयता की भावना का आर्विभाव हो चुका था। इसके साथ ही अपनी पहचान के प्रति नई चेतना भी जग रही थी।

बीसवीं सदी के चालीस के दशक तक मैतेयी पहचान का कृषक आन्दोलन और भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ एकीकरण हो गया था। मणिपुर में नारी आन्दोलन का अनुपम उदाहरण है, जैसा भारत के किसी भी प्रदेश में नहीं पाया जाता है। मणिपुर राज्य में राजाओं ने पहाड़ी, जन-जातियों को मणिपुरी राष्ट्रीयता के साथ मिलाने का प्रयत्न किया था। आगे चलकर मणिपुर राष्ट्रीयता भारतीय राष्ट्रीयता के साथ जुड़ गई। ईसाई धर्म के प्रचार तथा नागा-मिजो क्षेत्रों में नई पहचान की खोज ने एक नया अलगाववादी रूप धारण कर लिया। इसने भारतीयकरण की धारा को गहरा आघात पहुँचा। स्थानीय लोगों की आकांक्षाओं की भारतीय शासन तथा नौकरशाहों के द्वारा अवहेलना ने भी भारतीयकरण के प्रवाह को चोट पहुँचाई।

इन सब कारणों से क्षेत्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिला; मणिपुर के कुछ वर्गों ने भारतीय संस्कृति के साथ एकीकरण का विरोध शुरू किया। इन लोगों ने उन सभी प्रतीकों तथा मिथकों को, जो भारतीय परम्परा से इन्हे जोड़ते हैं, अस्वीकार करने का आन्दोलन प्रारम्भ किया।

इस स्थिति में इतिहासकारों का काम कठिन हो गया है। क्षेत्रीय उग्रवाद के सिद्धान्त को नकारने की प्रवृत्ति का उद्रेक हो चुका है। इस समस्या का एकमात्र निदान है, निष्पक्ष अनुसंधान द्वारा पूर्वाग्रह से मुक्त हो उग्रवाद-क्षेत्रीयता से प्रभावित हुये बिना ऐतिहासिक विकास का वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा अध्ययन तथा शोध करना।

आधुनिक युग में कई मणिपुरी विद्वानों ने अपनी प्राचीन परम्परा के अध्ययन में रूचि लेना शुरू किया। सर्वश्री एतम बापू शर्मा और डब्ल्यू युमजाओ सिंह ऐसे विद्वानों में अग्रणी थे। श्री शर्मा संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे जिन्होंने 100 से अधिक निबन्धों और पुस्तकों की रचना की। इन्होंने मणिपुर के इतिहास की वैदिक व्याख्या की। मणिपुर की उत्पत्ति वैदिक युग से सिद्ध करने की चेष्टा की। श्री सिंह ने मणिपुर का इतिहास मणिपुरी भाषा में लिखा। इन्होंने अपने इतिहास लेखन का आधार राजाओं के अभिलेखों, किम्बदन्तियों और पुईया मणिपुरी पुराण को बनाया। श्री युमजाओ सिंह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने मणिपुर में पुरातात्विक अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् 1935 में ही इन्होंने अपने अनुसंधान की रिपोर्ट प्रकाशित किया था। श्री आर.के. सनाहाल ने सन् 1947 ई. में मणिपुरी इतिहास पर पुस्तक का प्रकाशन किया। डा. एल. चन्द्रमणि सिंह ने गौवाहाटी विश्वविद्यालय से आंग्ल-मणिपुरी रिलेसन्स पर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त किया। मणिपुर के इतिहास पर यह पहला शोध था।

पद्मश्री खेलचन्द्र ने मणिपुर के इतिहास के देशीय स्त्रुतों के संग्रह तथा प्रकाशन का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इन्होंने कई ऐतिहासिक अभिलेखों तथा ब्रिटिश अभिलेखों का भी सम्पादन तथा प्रकाशन किया। सन् 1966 ई. में श्री खेलचन्द्र सिंह ने इबोगोहल सिंह के साथ संयुक्त रूप से चिन्नैल\* कुम्बाबा का सम्पादन किया।

पंडित एतम बापू शर्मा लिखित मणिपुर इतिहास सन् 1942 ई. में प्रकाशित हुआ था। मणिपुर में प्रकाशित कुछ पुस्तकों में श्री झुलोन सिंह रचित विजय पंचाली, 1960 और श्री के. एच. कौमच का मणिपुर इतिहास (1940) का उल्लेख किया जा सकता है।

मणिपुरी विद्वानों की अधिकांश पुस्तकों में किम्बदन्तियों का इतिहास के साथ मिश्रण किया गया है। इन लेखकों में अधिकतर इतिहासकार नहीं थे तथा उन्हें इतिहास लेखन की वैज्ञानिक पद्धति का ज्ञान नहीं था। फिर भी उनके प्रयत्न सराहनीय हैं, उनके प्रयत्नों से यह स्पष्ट होता है कि वे विगत घटनाओं को लिपिबद्ध करने की पुरानी परम्परा का पालन कर रहे थे।

इन देशी अभिलेखों का प्रचुर भंडार मणिपुर में है। राजाओं के अतिरिक्त कई परिवारों में भी घटनाओं को लिपिबद्ध करवाने की परम्परा थी। ये सभी मणिपुर के इतिहास के मूल्यवान स्रोत हो सकते हैं। पर अभी तक इन स्रोतों का वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं हुआ है। जब तक इनका वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन नहीं हो जाता शोधकर्ताओं को इनसे अधिक सहायता की सम्भावना नहीं।

\*चिन्नैल कुम्बाबा मणिपुर के राजाओं द्वारा लिखवाया गया तत्कालीन युद्धों तथा अन्य गतिविधियों का संग्रह है। इसमें कई सदियों की घटनाओं को संग्रहित किया गया है।

मणिपुर में पदस्थापित अंग्रेज अधिकारियों ने कई संस्मरण तथा पुस्तकें लिखीं जो इतिहास लेखन में बहुत सहायक हैं। ऐसे अधिकारियों में आर. बी. पेम्बर्टन का नाम सर्वप्रथम आता है, जिसने पुराने रेकार्डों का अध्ययन कर 'रिपोर्ट ऑन इस्टर्न फ्रान्टियर ऑफ ब्रिटिश-इण्डिया' सन् 1835 ई. में प्रकाशित किया।

मैकाले ने 'दी एकाउन्ट्स ऑफ दी मणिपुर एन्ड सराउन्डिंग हिल ट्राईब्स' सन् 1859 ई. में प्रकाशित किया। आर. ब्राउन ने इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुये 'दी स्टैटिस्टिकल एकाउन्ट ऑफ नेटिव स्टेट ऑफ मणिपुर एन्ड हिल टैरीटरीज अन्डर इट्स राज' सन् 1874 ई. में प्रकाशित किया।

इनके अतिरिक्त अलेकजेन्डर मैकेन्जी की पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ नोर्थ इस्टर्न फ्रान्टियर ऑफ बंगाल' मणिपुर के इतिहास का विशद वर्णन करती है। ई. डब्ल्यू दून ने मणिपुर गैजेटियर को पूरा किया, जिसमें बहुत सामग्री उपलब्ध हो सकती है। मणिपुर के पोलिटिकल एजेंट ग्रीमउड की सन् 1890-91 के मणिपुर अंग्रेजों के बीच युद्ध में हत्या हो गई। उसकी युवा पत्नी मिसेज ग्रीमउड ने 'माई थ्री इयर्स इन मणिपुर' में तत्कालीन घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया है। सन् 1896 ई. में जे. जौन्स्टन ने 'माई इक्सपिरियेन्स इन मणिपुर एण्ड नागा हिल्स' का प्रकाशन किया। यह पुस्तक लोगों के जीवन तथा रीति-रिवाजों का विवरण देती है।

मणिपुर को ब्रिटिश शासन में मिला लेने के बाद शासकों तथा ईसाई प्रचारकों की दिलचस्पी में वृद्धि हो गई। मणिपुर से सम्बन्धित संस्मरण, पुस्तकें, रिपोर्ट लगातार निकलते रहे। बी. सी. एलेन के द्वारा गजेटियर ऑफ नागा हिल्स एन्ड मणिपुर का प्रकाशन हुआ। सन् 1908 ई. में टी.सी. हडसन की पुस्तक 'दी मैतेयी' का प्रकाशन हुआ। हडसन ने ही सन् 1911 ई. में दी नागा ट्राईब्स ऑफ मणिपुर का भी प्रकाशन किया। हडसन प्रशिक्षित नृवैज्ञानिक था। इसकी पुस्तक को उच्च स्तर की है। वह शासक के साथ उच्च श्रेणी का बुद्धिजीवी था।

सन् 1922 ई. में इन्डियन हिस्टोरिकल रेकॉर्ड कमीशन के वार्षिक अधिवेशन में अब्दुल अली ने एक निबन्ध प्रस्तुत किया। यह एक पुस्तिका के रूप में 1923 ई. प्रकाशित हुआ। अली के पूर्व किसी भारतीय ने मणिपुर के इतिहास पर नहीं लिखा था। यद्यपि अली ने ब्रिटिश लेखकों को ही अपना आधार बनाया था, पर मणिपुर के इतिहास पर यह एक प्रारम्भिक पुस्तक है। वर्षों तक अंग्रेजी में मणिपुर के इतिहास पर यही एकमात्र पुस्तक उपलब्ध थी। स्वतंत्रता प्राप्ति तथा गणतंत्र बनने के बाद सन् 1958 ई. में इतिहास के शिक्षक जे. राय ने 'हिस्ट्री ऑफ मणिपुर' प्रकाशित किया। यह पुस्तक छात्रों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। इसके साथ ही एलडबोगोहल सिंह की पुस्तक 'एन इन्ट्रोडक्शन टू मणिपुर' तथा आर.के. जलजीत सिंह रचित 'ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ मणिपुर' का प्रकाशन हुआ।

सन् 1974 ई. में इम्फाल में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर अध्ययन केन्द्र की स्थापना हुई। हालाँकि उसमें शोध का कार्यक्रम नहीं था, पर केन्द्र के छात्रों तथा शिक्षकों ने मणिपुर इतिहास लेखन की समस्याओं पर मंथन शुरू कर दिया। केन्द्र के इतिहास विभाग ने मणिपुर की इतिहास लेखन की समस्याओं पर गोष्ठियों का आयोजन किया। पिछली सदी के अस्सी के दशक में मणिपुर विश्वविद्यालय की स्थापना के साथ ही इतिहास लेखन की दिशा में नई प्रगति प्रारम्भ हो गई। सन् 1984 ई. में मणिपुर विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग ने मणिपुर तथा पड़ोसी राज्यों के इतिहास के स्रोत पर एक राष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया। बहुत बड़े पैमाने पर इसमें छात्र-शिक्षक शोधकर्ता, विद्वान तथा इतिहासकार एकत्र हुये। बीस से ऊपर निबन्ध इस विषय पर प्रस्तुत किए गये। गोष्ठी के समापन पर गोष्ठी में विचार मंथन से उत्पन्न कई महत्वपूर्ण सुझाव दिये गये। इस गोष्ठी के निबन्ध तथा इसकी अनुशंसा पुस्तक रूप में प्रकाशित हो चुकी है यह मणिपुर इतिहास लेखन में मार्ग-दर्शन करने में समर्थ है।

इसके बाद इतिहास लेखन की प्रक्रिया में अभूतपूर्व प्रगति हुई। मणिपुर विश्वविद्यालय के शोधकर्ताओं तथा शिक्षकों ने उत्साहपूर्वक काम किया। कुछ ही वर्षों में कई शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किये गये, जिसके आधार पर पी.एच.डी. की उपाधियाँ दी गईं। कई शोध-ग्रन्थ पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। पिछले पचीस-तीस वर्षों में मणिपुर के इतिहास पर कई प्रामाणिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। मणिपुर में इतिहास लेखन की प्रक्रिया की परिपक्वता अब राष्ट्रीय स्तर पर स्वीकृत हो चुकी है।

## आदिवासी गैर-आदिवासी सातत्य

डॉ. ब्रज बिहारी कुमार\*

भारत में आदिवासी, गैर-आदिवासी एवं जनजाति की परिकल्पना अंग्रेजों की देन है। इस देश के लिए आदिवासी, जनजाति एवं कबीला नये शब्द हैं। हमारी अधिकांश जनजातियाँ अपने लिये “जात” या “जाति” शब्द का ही प्रयोग करती हैं। कुछ जनजातीय भाषाओं में “जनजाति” के लिए प्रयुक्त कोष्ठक में दिए गये शब्द, जैसे, बोड़ो (जात, जाति), दिमासा कछारी (जाति), गारो (जात), त्रिपुरी (जाइति), खासी (जाइद), कोन्यक नागा (जात), फोम नागा (जात) जेलियांग नागा (जाति), कबुई नागा (जाति), संताल (जात, जाति), हो (जाति, मतकि) तथा कुडुख (जात, जाइत, जायमुय, खुट), इसे प्रमाणित करते हैं।

हिन्दी का “आदिवासी” शब्द अंग्रेजी के “अबारिजिन”, तथा “जनजाति” एवं “कबीला” शब्द ट्राइब शब्द के लिए प्रयुक्त होते हैं। अंग्रेजी में दोनों शब्दों का प्रायः समानार्थी प्रयोग होता है। जो आदिवासी है वह जनजाति या कबीला भी है। लेकिन पहले शब्द में अंग्रेजों द्वारा आरोपित इतिहास की पुट भी है। वह इतिहास जिसके अनुसार इस देश में आर्य आक्रान्ता के रूप में बाहर से आये, जिन्होंने इस देश के आदि निवासियों को जंगलों तथा पहाड़ों में खदेड़ दिया। इतिहास का यह गलत लेखन, जिसकी शुरुआत मैक्समूलर ने की थी, चरम परिणति पर पहुँचा। भारत के सभी लोगआर्य, द्रविड़ आग्नेय एवं किरात वर्ग के लोगबाहर से आये हुए माने जाने लगे।

अंग्रेजों ने पहले आर्यों को मध्य-एशिया से आया हुआ बतलाया। अब इसे गलत माना जाने लगा है।<sup>1</sup> इसी प्रकार द्रविड़ों को भूमध्य सागर क्षेत्र से; मुण्डा, खासी आदि को दक्षिण पूर्व से तथा मंगोलायित तत्वों को उत्तर तथा उत्तर-पूर्व से आया हुआ। इस प्रकार आदिवासी अवधारणाओं के जनकों की नजर में ही इसकी वैधता नहीं रही।

‘शताब्दियों तक भारत की जनसंख्या आज की तुलना में दशांश रही है और कम जनसंख्या का होना भी मानव विकास में बाधक होता है। ऐसा ही दक्षिण भूटान में पिछले कुछ वर्षों में हुआ है। राजनीतिक कारणों से वहाँ से नेपालियों का पलायन

\* लेखक डायलॉग एवं चिन्तन-सृजन के सम्पादक हैं।

हुआ। ऐसी बाध्यता न होने पर उस क्षेत्र के कई नेपाली गाँव इसलिए खाली हो गये क्योंकि वहाँ जनसंख्या कम होने से जंगली जानवरों का उत्पात बढ़ गया था। अंग्रेजों द्वारा प्रचारित आदिवासियों के भगाए जाने की दुष्ट अवधारणा का इन तथ्यों के आधार पर पुनर्विचार आवश्यक है। वैसे सीमित स्तर पर विभिन्न वर्गों का स्थान परिवर्तन होता रहा है। विल्स के अनुसार विलासपुर के भूमिया, बिंझवार, महतो एवं कोरवा आदि गोण्ड एवं कुमार लोगों द्वारा भगाए जाने पर ही वहाँ आए।<sup>3</sup> छत्तीसगढ़ में दसवीं एवं बाहरवीं सदी तक के उजाड़ शहरों तथा मन्दिरों के भग्नावशेष; 16वीं, 17वीं शताब्दी में छत्तीसगढ़ के राजाओं का कमजोर होकर सत्ता खोना, रतनपुर के राजपूत सत्ता का कमजोर पड़ना, पहाड़ों पर डकैत सरदारों की सत्ता स्थापित होना तथा जनजातियों का बसना एक अलग ही कहानी कहते हैं।<sup>4</sup>

उपनिवेशवादी सोच के तहत आदिवासी गैर-आदिवासी विभेद को लगातार सशक्त किया गया। लेकिन उपनिवेशवादी लेखक भी जाति एवं जनजाति के आपसी विभेद के प्रति पूरे आश्वस्त नहीं थे। दोनों के बीच की विभाजकता बिल्कुल साफ नहीं थी। बहुत समय तक “कास्ट” एवं “ट्राइब” शब्द का दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते रहे; प्रायः एक दूसरे को स्थानान्तरित करते रहे। फिर स्थिति बदली और दोनों शब्द साथ-साथ प्रयुक्त होने लगे। उपनिवेशवादी परम्परा के अंग्रेजों एवं भारतियों द्वारा लिखी गयी पुस्तकों में ऐसा बार-बार हुआ। उदाहरणस्वरूप, एच.एच. रिस्ले की “ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ बेंगाल”, इ. थुरस्टोन की “कास्ट्स एण्ड ट्राइब्स आफ सदरन इन्डिया”, एल. के. ए. अय्यर की “कोचिन ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स”, एन. ए. शेररिंग की “हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स”, “ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ राजस्थान” तथा “ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ मद्रास प्रेसिडेन्सी”, आर.ई. एथ्नोवेन की “ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बॉम्बे”, रसेल एवं हीरालाल की “ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ द सेंट्रल प्रोविन्सेज आफ इण्डिया” एवं सी. विलियम की “ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ नार्थ-वेस्टर्न इण्डिया” का उल्लेख किया जा सकता है। अपनी उपनिवेशवादी विभाजक सोच के होते हुए भी अंग्रेज आदिवासी गैर-आदिवासी के अन्तर को स्पष्ट नहीं कर पा रहे थे। इस बनावटी विभाजक रेखा का निर्माण उन्होंने धीरे-धीरे किया। निहार रंजन राय ने इस बात का उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया है।

“सर्वप्रथम अठारहवीं शताब्दी के भारत संबंधी लेखन में “कास्ट” एवं “ट्राइब” का प्रयोग समानार्थक शब्दों के रूप में; फिर बाद में इससे अलग किन्तु एक दूसरे से जुड़े हुए, साथ-साथ प्रयोग शुरू हुआ।”<sup>5</sup>

जाति एवं जनजाति के अलगाव की प्रक्रिया अंग्रेजों के शासनकाल में भारत के जनगणना विभाग द्वारा शुरू करायी गयी। सर्वप्रथम बाइने ने 1891ई. की अपनी जनगणना रिपोर्ट में ‘खेतिहर एवं पशुपालक’ जातियों की उप-श्रेणी के रूप में “जंगली कबीलो” को अलग श्रेणीबद्ध किया। अगली दो जनगणना रिपोर्टों में रिस्ले एवं गेट

ने उनके लिए “जीववादी (एनिमिस्ट)” शब्द का प्रयोग किया। यह धर्म संबंधी अलगाव दिखाने का प्रारंभिक प्रयास था। सन् 1921 ई. की जनगणना में जीववादी के स्थान पर “जनजातीय धर्म (ट्राइबल रिलिजन)” प्रयुक्त हुआ। ऐसा हट्टन के प्रयास से हुआ। फिर 1931 ई. की जनगणना में “जंगली जनजाति” के स्थान पर “आदिम जनजाति (प्रिमिटिव ट्राइब)” का प्रयोग किया गया। हट्टन ने एनिमिज्म के स्थान पर “ट्राइबल रिलिजन” का प्रयोग शुरू किया।<sup>6</sup> ऐसा करना गलत एवं पक्षपातपूर्ण कदम था। घुर्ये ने लिखा है:

“किसी जनजाति के हिन्दू एवं अहिन्दू वर्ग में बंटे होने तथा हिन्दू वर्ग के कितना भी बड़ा होने पर उसे आदिम जाति की ही श्रेणी में रखा जाता है।”<sup>7</sup>

इसी प्रकार जनजाति के निवास-स्थान एवं भाषा को भी नजर अंदाज किया गया है। घुर्ये ने इस विषय में मार्टेन का विचार उद्धृत किया है और कहा है कि “किसी जनजाति के बहुत बड़े वर्ग के दूसरे लोगों के साथ मैदानी इलाके में रहने पर भी उसे “जंगली” या “आदिम जनजाति” की श्रेणी में ही रखा जाता है।”<sup>8</sup>

उन्होंने आगे लिखा है:

“किसी जनजाति को इस श्रेणी के भीतर या बाहर रखने के लिए उसके धार्मिक सम्बद्धता को ध्यान में नहीं रखा जाता है। यही बात भाषा पर भी लागू होती है। उदाहरणस्वरूप, न तो बैगा और न भील ही, जनजातीय भाषाएँ बोलते हैं, फिर भी दोनों ही जनजातियों की श्रेणी में परिगणित किए जाते हैं।”<sup>9</sup>

भारतीय संविधान की धारा 342 में भारत के राष्ट्रपति को, विभिन्न राज्यों के राज्यपालों की सलाह से, जनजातियों की सूची तैयार करने का अधिकार प्राप्त है। संसद द्वारा सूची संशोधित की जा सकती है।

संविधान में जनजाति की परिभाषित नहीं किया गया है। जनजातियों की तैयार की गयी सूची संविधान की अनुसूची में शामिल कर ली जाती है और समाज-वैज्ञानिक उन्हीं जनजातियों का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार आज जनजाति प्रशासनिक श्रेणी बन गयी है।

“जनजाति” की सर्वमान्य परिभाषा का अभाव है। अलग-अलग समाज-वैज्ञानिकों ने इसकी अलग-अलग परिभाषा दी है, इसकी अलग-अलग विशेषताओं का उल्लेख किया है।<sup>10</sup> इन परिभाषाओं की दो कमियों का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है, जो निम्नलिखित हैं:

(क) इनमें से कोई भी परिभाषा भारत की सभी जनजातियों पर समान रूप से लागू नहीं होती।

(ख) प्रायः सभी परिभाषाएँ एवं जनजाति की विशेषताएं जाति पर भी लागू होती हैं।

यहां इस बात का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है कि संविधान की अनुसूची में शामिल ऐसे बहुत से समुदाय हैं, जिन्हें अलग-अलग राज्यों में विभिन्न श्रेणियों में रखा गया है। संताल बिहार, झारखण्ड, पश्चिम बंगाल एवं उड़ीसा में अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में आते हैं। असम में उन्हें “अन्य पिछड़े वर्ग” के अन्तर्गत रखा गया है।

जनजातियों की कुछ विशेषताएं जैसे समान नाम, समान भाषा, एक क्षेत्र, एक तरह की तकनीक, सीमित विश्वदृष्टि, विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान, अपनापन की भावना, समान आचरण संहिता एवं समान आर्थिक गतिविधियाँ, लघुता, एकरूपता, अलग पहचान तथा समग्र परम्पराभिमुखता जातियों पर भी लागू होती है। एक ही जनजाति के अलग-अलग नाम (नागालैण्ड के कुकी, मणिपुर के थाडो), अधिक जनसंख्या वाली अनेकों जनजातियों जैसे-संथाल, मुण्डा, उराँव, भील, गोण्ड, थारू, बोड़ो, दिमासा कछारी, चैरो, खरवार, कोड़ा, गौरैत, चिक-बड़ाइक, लोहरा, कोम, हमार, जोउ, मिशिंग, इत्यादि जनजातियों का दूसरी जातियों या जनजातियों के साथ ही एक ही क्षेत्र या गांव में साथ-साथ रहना; एकाधिक जनजातियों की समान बोलियाँ (मध्य अरुणाचल की बोलियाँ, दक्षिण मणिपुर एवं मिजोरम की दर्जनो बोलियाँ), भिलों, थारूओं, बैगाओं, आदि की अपने पड़ोसियों के साथ भाषायी सहभागिता, कई जनजातियों का बहुभाषी होना, ध्यान में रखने योग्य बातें हैं।

प्रायः जनजाति को जाति से अलग दिखाने या दो विभिन्न वर्गों के सांस्कृतिक विभेद को दिखाने के लिए जन्म, मृत्यु एवं विवाह संबंधी संस्कारों के विभेद पर बल दिया जाता है। यहां इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि हमारे देश में ऊपर लिखे संस्कार तथा रीति-रिवाज आश्चर्यजनक रूप से एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। बच्चे के जन्म के बाद प्रायः सभी समुदायों में माँ को प्रसूतिका गृह में रखा जाता है। कुछ अपवादों, जैसे वुइ गांव के नागाओं तथा कुकी-चिन जनजातियों को छोड़कर सर्वत्र सगोत्र विवाह का निषेध है। हिमालय क्षेत्र की प्रायः सभी जनजातियाँ सगोत्र विवाह करनेवालों को कठिन से कठिन दण्ड तथा ग्राम निष्कासन का दण्ड देती है। कुछ जनजातियों में मामा की लड़की से विवाह की प्रथा है। ऐसी प्रथा दक्षिण भारत की जातियों में भी प्रचलित है। श्री कृष्ण के पुत्र अनिरुद्ध का विवाह अपने मामा रूक्मी की पुत्री से हुआ था। अनिरुद्ध के पुत्र प्रद्युम्न का विवाह रूक्मी की पौत्री से हुआ था। सुभद्रा अर्जुन के मामा की पुत्री थी। वधू मूल्य का प्रचलन अनेकों जातियों एवं जनजातियों में है। भीष्म को पाण्डु के विवाह के लिए माद्री के पिता को वधू-मूल्य चुकाना पड़ा था।

भारत में प्रायः हर जगह हिन्दू तथा बौद्ध शव को जलाते हैं। भारत के बहुसंख्य जनजातियाँ ऐसा ही करती हैं। मेघालय के खाशी लोगों में शव को जलाकर मृतक की

हड्डियों को जमाकर के रखा जाता है। हिमालय के सवर्ण खस क्षत्रियों में शव को गाड़ने की प्रथा रही है। यह प्रथा प्राचीन काल में लिच्छवियों में भी प्रचलित थी।

कुछ नागा जनजातियों में शव को मचान पर रखकर सुखाने की प्रथा भी प्रचलित रही है। वस्तुतः इन तीनों ही प्रथाओं का उल्लेख भारतीय धर्मग्रन्थों में हुआ है। अथर्ववेद में कहा गया है “हे अग्नि! गड़े हुए को, फेंके हुए को, अग्नि से जले हुए को तथा जो डाले पड़े गये हैं उन्हें यज्ञभाग खाने को लाओ।”<sup>12</sup> आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र में भी शव को गाड़ने तथा उच्च स्थान पर रखे जाने का उल्लेख मिलता है।<sup>13</sup> यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है कि मृतक-संस्कार की इन प्रथाओं का ही हमारी जातीय एवं सांस्कृतिक विभेद की पुष्टि के लिए सबसे अधिक उल्लेख किया जाता है, जो गलत है। विसैंट आर्थर स्मिथ<sup>14</sup> ने एक लेख में लिच्छवियों की उत्पत्ति तिब्बत से माना था, क्योंकि उन्होंने उनके मृतक संस्कार एवं न्याय पद्धति में समानता पायी थी। प्राचीन काल में भारत में मृतक-संस्कार की सभी विधियों का परिपालन होता था। अतः स्मिथ एवं उनके जैसे अनेक लेखकों द्वारा इन पद्धतियों के विभेद को बढ़ा-चढ़ाकर रखना गलत था। पूर्वी भारत के जनजातीय इतिहास (ट्राइबल हिस्ट्री ऑफ ईस्टर्न इण्डिया) में डाल्टन ने संथालों के मृतक-संस्कार को प्राचीन ब्राह्मण मृतक संस्कार पद्धति से आश्चर्यजनक रूप से समान होने का उल्लेख किया है।

भारत में जाति, भाषा तथा संस्कृति को परस्पर मिलाकर देखने की अवैज्ञानिक प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल है। फ्रीडिश मूलर के सामान्य भाषा विज्ञान के वृहद ग्रन्थ का मूलाधार भी यही सिद्धान्त है कि भाषा तथा जाति परस्पर संबंधित हैं। वस्तुतः इस विषय पर सोचते समय मानव मष्तिष्क में यही विचार आता भी है। यह आवश्यक है कि जाति संबंधी तथ्यों पर अत्यन्त सावधानीपूर्वक विचार किया जाय तथा गलत अवधारणों को अपने मस्तिष्क से निकाल बाहर किया जाय। मैक्समूलर का कथन कि रक्त-संबंधों की अपेक्षा विचार अधिक महत्त्वपूर्ण (गाढ़ा) है, अधिक मान्य होना चाहिए। यह सिद्धान्त कि आर्य लम्बे, गौरवर्ण एवं नीली आँखों वाले थे, अमान्य हो चुका है तथा अवैज्ञानिक माना जा रहा है। इस सिद्धान्त ने उस जाति भावना को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप योरप में हिटलर उत्पन्न हुआ। डिक्सन एवं चाइल्ड द्वारा नार्दिक जाति की परिकल्पना दफना दी गयी है। असम के राभा, लालुंग, होजाई आदि जनजातियाँ कभी बोड़ो भाषा-भाषी थीं। आज उनकी मातृभाषा असमी है। उरांव कभी मुण्डा भाषा-भाषी थे, आज वे द्रविड़ परिवारकी भाषा कुडुख तथा हिन्दी से जुड़ी सादानी एवं नागपुरिया भोजपुरी बोलते हैं। जाति एवं जनजाति के अन्तः संबंधों पर विचार करते समय इन बातों को भुलाया नहीं जाना चाहिए।

भारत में कश्मीरी एवं खाशी भाषाओं के अतिरिक्त, अन्य सभी भाषाओं की वाक्य संरचना एक समान है। इन भाषाओं में कर्ता के बाद कर्म तथा अन्त में क्रिया आती है। कश्मीरी एवं खाशी में कर्ता के बाद क्रिया तथा अन्त में कर्म आता है।

संथाली, मुण्डा, हो, उरांव आदि भाषाओं में तत्सम तथा तद्भव शब्दों की भरमार है। संथाली में अनेकों ऐसे संस्कृत शब्द प्रयुक्त होते हैं, जिनका प्रयोग अगल-बलग की आर्य भाषाओं में नहीं होता है। इस बात पर अंग्रेज लेखकों ने भी आश्चर्य व्यक्त किया है। मुंडा भाषाओं की तरह ही दक्षिण की द्रविड़ भाषाओं, कुछ नागा तथा हिमालय क्षेत्र की सार्वनामिक भाषाओं में उत्तम पुरुष बहुवचन सर्वनाम के दो रूप, श्रोता रहित तथा श्रोता सहित, मिलते हैं। हिन्दी का “हमारा” तथा “अपना” प्रयोग भी इसी समानता का द्योतक है। यह बात गुजराती में भी पायी जाती है। मुंडा भाषाओं की द्विदाशमिक गणना पद्धति के प्रभाव से बहुत सी अन्य भारतीय भाषाएं भी अछूती नहीं हैं। बंगला में “बीस”के लिए “कोरी” तथा “कुड़ी” प्रयुक्त होता है। यह शब्द बीसों अन्य आर्य एवं आग्नेय भाषाओं में प्रयुक्त होता है।<sup>15</sup> हिमालय की कुछ भाषाओं, विशेषतः कोन्चक, चांग एवं सांगतम नागा भाषाओं, में बीस पर आधारित गणना पद्धति देखी जा सकती है। यहाँ इस बात का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है कि जनजातीय भाषाओं की समानता के अनेक बिन्दुओं को विशद अध्ययन का विषय बनाया जाना चाहिए।

अपनी श्रेष्ठता की ग्रंथि के प्रभाव के कारण विदेशी आदिवासियों के “बर्बर अवस्था” में होने की बात करते रहे हैं। आदिवासियों के “समान उद्गम”, “खूनी संघर्ष या युद्ध के समान उद्देश्य के लिए एकजुटता”, “सरदार प्रथा”, “राजनीतिक इकाई की तरह होना”, “किसी खास पेशे से जनजाति का नाम नहीं जुड़ा होना” “जंगलों एवं पहाड़ों में अलग-थलग रहना”, “झूम खेती” से जुड़ाव आदि बातें बार-बार की जाती रही है। इस सम्बन्ध में कुछ विन्दुओं पर विचार आवश्यक है। भारतीय जनजातियों का एक बहुत छोटा वर्ग ही बर्बर अवस्था में रहा है। शेष आदिवासियों एवं गैर आदिवासियों, खासकर गांवों में रहनेवालों, के सामाजिक स्तर बहुत हद तक समान रहे हैं। जहां तक किसी जनजाति की उत्पत्ति-सम्बन्धी अनुश्रुति/दन्त-कथा का सवाल है, वह उसके सभी कुलों/गोत्रों की एक या अलग-अलग हो सकती है। यही बात अनेकों जातियों पर भी लागू होती है। देश के मध्य तथा पूर्वी क्षेत्रों में रहने वाली विभिन्न जातियों/जनजातियों के गोत्रों/कुलों के गणचिन्हों (टोटम) से जुड़ी उत्पत्ति सम्बन्धी अनुश्रुतियों से उनके समान उत्पत्ति (common descent) का सिद्धान्त गलत सिद्ध होता है। इसी प्रकार जनजातियों को जोड़ने वाले कारक कुल/गोत्र हैं, खूनी संघर्ष या “समान उद्देश्य के लिए युद्ध” नहीं। सरदार प्रथा (chieftainship) भी सभी जनजातियों में नहीं पायी जाती।<sup>17</sup> कुछ जनजातियों के सरदार उनके पुरोहित भी होते हैं, जैसे कोन्चक एवं वांचो नागाओं के।<sup>18</sup> खासी, गारो, तंग्सा एवं सिङ्फो सरदारों को अपने ग्राम पंचायतों की बात माननी पड़ती है।<sup>19</sup> अनेकों जनजातियों में गणतांत्रिक तरीके से जनजातीय/ग्राम व्यवस्था चलती है।<sup>20</sup> जनजातियों की ही तरह जातियों की भी अपनी-अपनी जाति-पंचायतें होती हैं। अंगामी नागाओं के न तो सरदार होते हैं

और न जनजाति पंचायतें, फिर भी ग्राम प्रशासन अति-गणतांत्रिक ढंग से चलता है।<sup>21</sup> खून एवं कुल की भावना से जुड़े निशि लोगों का ग्राम प्रशासन अराजकता की सीमा तक जाते हुए भी व्यवस्थित ढंग से चलता है।<sup>22</sup> यह बात सही नहीं है कि जनजातियों के नाम किसी पेशे से जुड़े नहीं होते। लोहरा, कोड़ा, गौरैत, चिक-बड़ाइक, तुरी, टोडा आदि जनजातियों के विशिष्ट पेशे होते हैं। साथ ही, यह भी सही है कि अधिकांश जातियों तथा जनजातियों के नाम किसी खास पेशे के द्योतक नहीं होते।<sup>23</sup> इस कथन में आंशिक सत्य ही है कि जनजातियाँ जंगलों एवं पहाड़ों में अलग-थलग रहती हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, कई मुख्य एवं अधिक जनसंख्यावाली जनजातियाँ मैदानी इलाके में दूसरी जातियों/जनजातियों के साथ मिले जुले गांवों में रहती हैं।

जनजातीय समाज की आत्म-निर्भरता की बात आंशिक रूप से ही सही है। झूम खेती को बहुधा जनजातियों के साथ जोड़कर देखा जाता है। इस संदर्भ में इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि गैर जनजातीय वर्ग भी, जैसे सिक्किम में, झूम खेती करता है। फिर सभी जनजातियों के लोग झूम खेती नहीं करते। अंगामी नागा, चाखेसांग नागा तथा माओ नागा, सीढ़ीनुमा खेतों में खेती (terraced cultivation) करते हैं। अरुणाचल प्रदेश के आपातानी भी झूम खेती नहीं करते हैं। यही बात मैदानों में रहने वाली जनजातियों के विषय में भी कही जा सकती है।

विदेशी लेखकों ने जनजातियों को भूत प्रेत आदि का पूजक कहकर उनकी भर्त्सना की है। गलत उद्देश्य एवं पूर्वाग्रह प्रेरित ऐसे लोगों ने जनजातियों की आस्था एवं उनके लोक विश्वासों पर सदा ही गहरी चोट की। उनके देवताओं को शैतान कहना, हिन्दू आदिवासियों को जीववादी (Animist) या अधिक से अधिक हिन्दुआइज्ड (Hinduized) कहने में उन्हें कुछ भी गलत नहीं लगता था। भारत की जनजातियाँ संसार के स्रष्टा ईश्वर में विश्वास करती हैं। वे अनेक देवी देवताओं की पूजा करती हैं, लेकिन सर्वोच्च सत्ता वाले स्रष्टा की नहीं। वस्तुतः सृष्टिकर्ता ईश्वर उनमें भय का संचार नहीं करता, अतः उसे मानते हुए भी वे उसे पशुबलि या अन्य धार्मिक विधि विधानों द्वारा प्रसन्न नहीं करते। यदि भय जनजातीय भावनाओं का कारक होता, तो सबसे बड़े देवता की पूजा अधिक होती। पर ऐसा नहीं है। वस्तुतः ईश्वर संबंधी जनजातीय विश्वास और ब्रह्म संबंधी वैदिक अवधारणा में आश्चर्यजनक मेल है। रीति-रिवाज, धार्मिक विश्वास, पर्व-त्यौहार, आदि की समानता इस बात की तरफ इंगित करती है कि जाति जनजाति के बीच की विभाजक रेखा कृत्रिम है।<sup>24</sup> एल्विन ने असम की जनजातियों के अतिरिक्त शेष भारत की सभी जनजातियों को हिन्दू के रूप में परिगणित करने की सलाह दी थी।<sup>25</sup> किन्तु असम एवं त्रिपुरा की अधिकांश जनजातियाँ तथा अरुणाचल प्रदेश के नोक्ते नागा आदि भी हिन्दू ही हैं।

भारत के सामाजिक सातत्य एवं गतिशीलता को उपनिवेशवादी लेखकों ने सदा ही नकारा है। जाति जनजाति द्विविभाजन भी उपनिवेशवादी सोच की उपज है।

वस्तुतः जाति जनजाति सातत्य (Caste Tribe Continuum) को नकारा नहीं जा सकता, और जाति तथा जनजाति भारत के सामाजिक परिमाण पर के दो छोरों पर अवस्थित दो श्रेणियाँ भी नहीं हैं। अंशतः इस विभेद को मानने पर भी इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि भारत में संस्कृतिकरण (Sanskritization) तथा जनजातिकरण (Tribalization) की प्रक्रियाएँ साथ-साथ चलती रही हैं। सामाजिक रीति-रिवाज भी बदलते रहे हैं। उड़ीसा के अगरिया कभी क्षत्रिय थे, अपने शवों को जलाते थे, आज उन्हें जनजाति कहा जाता है और शवों को दफनाते हैं। संथाली, हो आदि के लोकगीतों तथा मंत्रों में संस्कृत श्रोतीय शब्द बोलचाल की भाषा से काफी अधिक हैं। धार्मिक रूप से जनजातीय भारत शेष भारत से जुड़ा हुआ है। हिन्दू धर्म के सभी तत्व जनजातीय धर्म में मौजूद हैं। अतः हिन्दूकरण (Hinduization) की बात गलत है। अफसोस है कि हमारा संस्कृति संबंधी चिन्तन खण्डित करने वाली मानसिकता का शिकार हो गया है।

### संदर्भ:

1. डा. ब्रज बिहारी कुमार द्वारा संपादित तथा नागालैण्ड भाषा परिषद, कोहिमा द्वारा प्रकाशित विभिन्न जनजातीय भाषाओं के कोश; अन्य कोश
2. दे. नवरत्न एस. राजाराम की "आर्यन इनक्लैशन आफ इण्डिया"; श्रीकान्त जी. तालागोरी की "द आर्यन इनक्लैशन थ्योरी: ए रिस्पेजल", कोएनार्ड एल्स्ट की "इण्डिजनस इण्डियन्स: अगस्त्य टू अम्बेडकर
3. जी.एस. घुर्वे, द सिड्यूल्ड ट्राइब्स, पृ. 11
4. तथैव
5. शिमला (1972) की "ट्राइबल सिचुएसन इन इण्डिया" विषय पर गोष्ठी के प्रारंभिक भाषण का अंश.
6. डा. बी.बी. कुमार, "ट्राइब कास्ट कन्टीन्यूअम", नयी दिल्ली, डायलॉग, जुलाई-सितम्बर 1999, पृष्ठ 98.
7. घुर्वे, जी.एस., दि सिड्यूल्ड ट्राइब्स: पृष्ठ 9,
8. तथैव,
9. तथैव,
10. बी.बी. कुमार, ट्राइबल सोसाइटीज आफ इण्डिया, पृष्ठ 2-4
11. तथैव, पृष्ठ 4-11, डायलॉग, नयी दिल्ली, जुलाई-सितम्बर 1999, पृष्ठ 96-104.
12. अथर्ववेद 18.2.34,
13. आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र 1.87,
14. विंसेंट आर्थर स्मिथ, इण्डियन एण्टिक्वेरी, 1903, पृष्ठ 233,
15. डा. बी.बी. कुमार, भारतीय भाषा कोश, भाग-1 नयी दिल्ली, ओमसन्स पब्लिकेशन्स, (2001), पृष्ठ 152,



16. तथैव, पृष्ठ 152-54.
17. डा. बी.बी. कुमार, *ट्राइबल सोसाइटीज आफ इण्डिया*, पृष्ठ 378-410.
18. तथैव, पृष्ठ 37
19. तथैव, पृष्ठ 39,
20. तथैव, पृष्ठ 39-40
21. तथैव, पृष्ठ 40,
22. तथैव, पृष्ठ 41
23. तथैव, पृष्ठ 7
24. घुर्ये, तथैव, पृष्ठ 239-74
25. तथैव, पृष्ठ 19

## पुस्तक-समीक्षा

### हिन्दी में विज्ञान - भावना

समीक्षकडॉ. कृष्ण कुमार मिश्र \*

बहुचर्चित समीक्ष्य पुस्तक 'हिन्दी में विज्ञान-भावना' हिन्दी में विज्ञान लेखन की प्रासंगिकता, विधा, प्रस्तुति, मौलिकता, गुणवत्ता, प्रकाशन, पठन-पाठन, प्रचार-प्रसार एवं लोकव्यापीकरण के मुद्दों पर एक विमर्श है। इसका मकसद हिन्दी विज्ञान लेखन से जुड़ी समस्याओं पर विचार करने के साथ उनके निराकरण की दिशा में लेखकों के मध्य एक सार्थक संवाद तथा व्यापक सहयोग और सहकार की सम्भावनाओं की तलाश करना है। पुस्तक के सम्पादक हैं 'वैज्ञानिक एवं तकनीकी शब्दावली आयोग', भारत सरकार, के पूर्व अध्यक्ष डा. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव। सम्प्रति वाडिया हिमालय भूविज्ञान संस्थान, देहरादून में वे वरिष्ठ वैज्ञानिक हैं। विज्ञान भूषण डॉ. श्रीवास्तव न केवल हिन्दी विज्ञान लेखन के क्षेत्र में सुपरिचित और सुप्रसिद्ध हस्ताक्षर हैं वरन् हिन्दी साहित्य में भी उनकी गहरी पैठ है। वे पहले भारतीय हैं जिसने भूविज्ञान में अपना शोध-प्रबंध हिन्दी भाषा में प्रस्तुत किया था, इसलिए उनके द्वारा संपादित इस पुस्तक में उनके संपादन कौशल की झलक साफ देखी जा सकती है। 'हिन्दी में विज्ञान-भावना' के मुख्य शीर्षक के अन्तर्गत निम्नलिखित उपशीर्षकों से पुस्तक में कुल सात खण्ड हैं। ये हैं 1. प्रासंगिकता का मुद्दा, 2. विधा तथा प्रस्तुति का मुद्दा, 3. उत्तरदायित्व, मौलिकता और गुणवत्ता का मुद्दा, 4. प्रकाशन तथा पठन रूचि का मुद्दा 5. प्रसार तथा लोकप्रियकरण का मुद्दा 6. दो महत्वपूर्ण अभिमत तथा 7. मुद्दों का मुद्दा, सार्थक-संवाद। अंत में सहकार के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है तथा विश्व हिन्दी व्यास के विषय में जानकारीयां दी गई है। सम्पादक के कथनानुसार 'हिन्दी में विज्ञान-भावना' एक दस्तावेज है जो भारतीय जनमानस में वैज्ञानिक चेतना जाग्रत करने तथा विज्ञान लोकप्रियकरण के लोकहितकारी सरोकार से जुड़ा है। शुरुआत में सम्पादक डॉ. श्रीवास्तव ने **अर्थ** शीर्षकान्तर्गत मौजूदा भारत की तस्वीर खींची है। वह भारत जहां कई क्षेत्रों में आशातीत सफलता के बावजूद निरक्षरता, अन्धविश्वास, गरीबी, कुरीतियाँ, बेरोजगारी और शोषण अन्यान्य रूपों में मौजूद हैं। आम आदमी इन सवालों से रूबरू है और बड़ी शिद्दत से इनकी आँच

\* वैज्ञानिक, होमी भाभा विज्ञान शिक्षा केन्द्र, टाटा मूलभूत अनुसंधान संस्थान, मुम्बई

महसूस कर रहा है। समस्याओं के इस विकट जाल से पार पाने की राह क्या हो? सबको रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा और जीवन की दूसरी बुनियादी जरूरतों का पूरा करने का जो सब्जबाग नेताओं द्वारा लोगों को पिछली आधी सदी से दिखाया जा रहा है, वह कोरी बयानबाजी से नहीं होगा। इसके लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी की राह ही एकमेव राह है।

**सम्पादकीय कथन** में अपनी बातों को विस्तार देते हुए डॉ० श्रीवास्तव वर्ष 2020 तक देश को विकसित देशों की पाँत में लाने की कल्पना का भी उल्लेख करते हैं। विकास के व्यापक सन्दर्भों का हवाला देते हुए उनका कहना है कि विकास का आशय भौतिक सुख-सुविधाएँ जुटा दिए जाने से ही नहीं होता बल्कि उसका आशय व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास से है। विकास से व्यापक परिप्रेष्य में भौतिक, नैतिक, भावात्मक और सांस्कृतिक विकास भी समाविष्ट होते हैं। उसमें शिक्षा, संस्कृति, स्वास्थ्य तथा जीवन के दूसरे मूल्य भी शामिल हैं जो एक इंसान को सही मायने में इंसान बनाते हैं। और ये सब होने के लिए समूचे समाज की चेतना को मथ देने की जरूरत है। इस कार्य में विज्ञान की बड़ी ही अहम भूमिका होगी। उसे जन-जन तक पहुँचना होगा। लोगों में जागरूकता लानी होगी। आम आदमी में वैज्ञानिक दृष्टिकोण जगाना होगा। रूढ़ियों के बन्धन तोड़ने होंगे। तब कहीं जाकर वैज्ञानिक चेतना-सम्पन्न समतामूलक समाज का स्वप्न साकार होगा। यह कार्य जाहिर है बहुत बड़ा है। अकेले किसी के बूते की बात नहीं है यह। इसके लिए समवेत प्रयत्न वांछित है। विज्ञान शिक्षकों, वैज्ञानिकों, विज्ञान लेखकों, विज्ञान प्रकाशकों, विज्ञान-प्रचारकों को एक अहम भूमिका निभानी होगी। इस कार्य में कठिनाइयाँ भी बहुत हैं, कई तरह की बाधाएँ हैं, जिनसे पार पाना है। यह पुस्तक इन्हीं भावनाओं और विचारों को संजोए है।

आज देश में हिन्दी में विज्ञान लेखन की स्थिति यदि दयनीय नहीं तो असन्तोषजनक जरूर है। ऐसा स्वर इस पुस्तक में संकलित विचारों से ध्वनित होता है। हिन्दी भाषी इलाके में सक्रिय तौर पर लिखनेवाले गिने-चुने हैं। उसकी कई वजहें हो सकती हैं। एक अहम वजह यह है कि हिन्दी में विज्ञान लेखन को जो स्थान और सम्मान मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता। जबकि अंग्रेजी में एक औसत दर्जे का लेखक भी अपने समवर्ती हिन्दी लेखक से हैसियत में कहीं बड़ा होता है। किसी अस्थापित विज्ञान लेखक को हिन्दी का कोई प्रकाशक जल्दी छापने को तैयार नहीं होता। उसके पीछे उसकी अपनी आशंकाएँ होती हैं, उसका अपना नफे-नुकसान का गणित काम करता है। देश में हिन्दी पढ़ने-लिखने, बोलने और समझनेवालों की अनुमानित संख्या करीब 50 करोड़ है। लेकिन यह विडंबना ही है कि इतने बड़े समुदाय में जितना साहित्य बिकना और खपना चाहिए, वह है नहीं। उसकी एक वजह यह है कि हिन्दी भाषी इलाकों में पठन-पाठन का संस्कार अभी खूब विकसित नहीं हुआ है। उनमें अपनी भाषा को लेकर जो जागरूकता और चेतना होनी चाहिए वह

प्रायः दृष्टिगोचर नहीं होती। इस पुस्तक में ये सभी बातें दर्ज हुई हैं। ज्यादातर लोगों का मानना है कि आजादी के बाद सरकारों ने हिन्दी को लेकर नारेबाजी तो खूब की लेकिन उसे उसका वाजिब हक कभी दिया नहीं गया। ब्यूरोक्रेसी के स्तर पर हिन्दी को लेकर एक अजीब नकारात्मकता देखने को मिलती है। जहाँ तक हिन्दी भाषा का प्रश्न है, उसकी सामर्थ्य निर्विवाद है। शब्द, वाक्य-विन्यास, रस, छन्द, अलंकार, अभिव्यक्ति, भाव और प्रस्तुतीकरण में वह पूरी तरह सक्षम है। वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों के समकक्ष शब्द यहाँ मौजूद हैं। फिर क्या वजह है कि उसमें उच्च शिक्षा और शोध नहीं हो रहे। इसकी एकमात्र वजह सरकारी उपेक्षा है। सच्चाई यह है कि अंग्रेजों के जमाने से ही यहाँ एक वर्ग रहा है जो अंग्रेजी ज्ञान के बूते अंग्रेजों की निकटता हासिल किए रहा तथा उनके साथ शोषण में बराबर का साझीदार रहा और बदले में सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त किए रहा। आजादी के बाद भी उस वर्ग ने अंग्रेजी की कालत जारी रखने में अपनी भलाई समझी। फलतः आजाद भारत में अंग्रेजी का दबदबा कायम रहा और हिन्दी दोयम दर्जे की भाषा ही रही। इस विमर्श में ये सारी बातें परोक्ष या अपरोक्ष रूप से प्रकट हुई हैं।

इस पुस्तक में जिन लोगों के विचार संकलित हैं वे हैं-सर्वश्री प्रो. यशपाल, डॉ. जयन्त नालीकर, रामचन्द्र मिश्र, राजेन्द्र सिंह, डॉ. प्रदीप कुमार मुखर्जी, आइवर यूशियल, डॉ. राम चौधरी, डॉ. (श्रीमती) प्रेम भार्गव, दलीप भाटिया, प्रदीप शर्मा एवं डॉ. के.के. कक्कड, प्रो. सूरजभान सिंह, प्रेमानन्द चन्दोला, सतीश चन्द्र सक्सेना, देवर्षि कलानाथ शास्त्री, गिरीश चन्द्र चौधरी, डॉ. हरिश्चन्द्र गुप्त, शिवेन्द्र कुमार पाण्डे, डॉ. विष्णुदत्त शर्मा, रघुवर दत्त रिखाड़ी, डॉ. शिवगोपाल मिश्र, डॉ. रमेश दत्त शर्मा, डॉ. बी. बी. कुमार, गुणाकर मुले, डॉ. नरेन्द्र सहगल, कुलवन्त सिंह एवं रमेश चन्द्र पन्त, डॉ. श्रवण कुमार तिवारी, पंकज बिष्ट, डॉ. विजय कुमार भार्गव, डॉ. दुर्गादत्त ओझा, डॉ. दिनेश मणि, विजय चितौरी, दर्शनसिंह रावत, प्रो. महाराज नारायण महरोत्र, डॉ. दिनेश चमोला, राधाकान्त भारती, डॉ. विमलेश कान्ति वर्मा, विश्वमोहन तिवारी, डॉ. सुबोध महन्ती, विनीता सिंहल, डॉ. श्याम सिंह शशि, श्याम सुन्दर शर्मा, तुरशनपाल पाठक, डॉ. मनोज पटैरिया, राधाकान्त अन्धवाल, डॉ. कृष्ण कुमार मिश्र, डॉ. ललित मोहन बहुगुणा एवं डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव। इनमें से ज्यादातर नाम हिन्दी विज्ञान के सुधी पाठकों के लिए नए नहीं होने चाहिए क्योंकि ये समकालीन हिन्दी विज्ञान-लेखन के सशक्त हस्ताक्षर हैं। वैसा ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि हिन्दी विज्ञान लेखकों की सूची कुल इतनी ही है। इनके अलावा भी अनेक लेखक हैं जो सक्रिय तौर पर हिन्दी माध्यम से विज्ञान के प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं।

पुस्तक के **प्राकथ्य** में प्रो. यशपाल ने कई उल्लेखनीय बातें कहीं हैं। मसलन कि विज्ञान को जनभाषा में व्यक्त करके ही हम उसे जन-जन तक पहुँचा सकते हैं। अकसर लोग सम्प्रेषण में पाण्डित्यपूर्ण शब्दाडम्बरों के कायल होते हैं। नतीजतन पाठक

और सम्प्रेषक के बीच तादात्म्य नहीं बन पाता। अतः विद्वान्ता प्रदर्शन से परहेज कर सरलता अपनाने की जरूरत है। प्रोफेसर यशपाल की इस टिप्पणी कि आज ऐसा वातावरण बनाने की जरूरत है जहाँ 'मैं और दूसरा' समा सकें, के गहरे निहितार्थ हैं। उनका संकेत वैश्विक सहअस्तित्व की ओर है जहाँ विभिन्न संस्कृतियाँ मिल-जुलकर रह सकें। इस कार्य में विज्ञान की भूमिका अहम होगी। उन्होंने विज्ञान के साथ समाज-विज्ञान और साहित्य को भी जोड़ने की बात कही है। डॉ. नार्लीकर का मत है कि विज्ञान का अभीष्ट 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखय' होना चाहिए। डॉ. राम चौधरी ने इशारा किया है कि हमारे समाज में एक प्रभु वर्ग है जिसकी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहा है तथा बाकी आर्थिक रूप से निर्बल और कमजोर लोगों के लिए अन्य भारतीय भाषाएँ रही। फलतः विपन्न तबका विज्ञान और प्रौद्योगिकी से जुड़ नहीं पाया और अलग-थलग पड़ गया। डॉ. शिवगोपाल मिश्र का कथन है कि मौलिक लेखन के लिए जरूरी है कि देश के शीर्ष वैज्ञानिक विज्ञान-लेखन में आगे आएँ। गुणाकर मुले का मानना है कि हिन्दी को विज्ञान समर्थ भाषा बनाने में ज्यादा वक्त लगने की बात करनेवाले झूठे हैं। रामचन्द्र मिश्र का कथन है कि लोकोपयोगी विज्ञान-लेखन में मौलिकता, गुणवत्ता और जवाबदेही की भावना की कमी है। दिनेश मणि का कहना है कि हिन्दी लेखक खासकर के उदीयमान लेखक का मूल्य कम है। मनोज पटैरिया तथा सुबोध महन्ती का मानना है कि विज्ञान संचारक यदि लोगों की रुचि को ध्यान में रखते हुए उन्हीं की जुबान में बात करें तो उनसे सहज जुड़ पाएँगे।

प्रस्तुत विमर्श अपने आप में एक अनूठा प्रयास है। मेरी जानकारी में यह अपनी तरह का प्रथम प्रयास है जहाँ विज्ञान लेखन से जुड़े अनेक लोगों के विचारों और उनकी भावनाओं को एक पुस्तक रूप में पिरो दिया गया है। इसमें लेखकों की चिन्ताएँ ही रेखांकित नहीं हैं, अपितु उन निराकरण का मार्ग भी सुझाया गया है तथा एक ठोस और महती कार्ययोजना का मसौदा भी मोटे-मोटे रूप में सामने आया है। कुछ ऐसे बिन्दु जो लगभग सभी के विचारों में मुखरित हुए हैं वे ये हैं कि हिन्दी में वर्तमान लेखन की स्थिति को गति प्रदान करने की जरूरत है। वर्तमान स्थिति से लेखक सन्तुष्ट नहीं हैं। वे सरकारी प्रयास को नितान्त नाकाफी मानते हैं। उनका ये भी मानना है कि इसके लिए सरकारी मदद की बाट जोहने का कोई मतलब नहीं है। उनका मत है कि आज जरूरत इस की बात की है कि लेखक स्वयं आगे आएँ। वे आपसी सहयोग और सहकार से हिन्दी में विज्ञान लेखन, उसके प्रकाशन और सामग्री के विपणन के लिए प्रयास करें।

आज के इस दौर में जब जाति, धर्म, क्षेत्र, मजहब, भाषा और वर्ण को लेकर इंसान-इंसान के बीच दीवार खड़ी की जा रही हो तो विज्ञान एक ऐसा औजार साबित हो सकता है जो दीवारों को तोड़कर दुनियाभर के लोगों को जोड़ सकता है। ऐसा इसलिए क्योंकि विज्ञान का कोई धर्म, कोई मजहब नहीं है। वह इंसानी मेधा, उसकी

अन्वेषी प्रवृत्ति का घोटक है। 'हिन्दी में विज्ञान-भावना' एक ऐसा दस्तावेज है जो हिन्दी में विज्ञान संचार से जुड़े हर एक के लिए संग्रहणीय है। हर हिन्दी विज्ञान प्रेमी को इसमें कहीं-कहीं अपनी ही आवाज प्रतिध्वनित होते जान पड़ेगी। यहीं इस पुस्तक की सबसे अहम चीज़ हैं। पुस्तक के सम्पादक डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव का भगीरथ प्रयास सचमुच स्तुत्य है जिन्होंने बिखरी आवाजों को एक मंच प्रदान करने की कोशिश की है और उन्हें एक समवेत स्वर देने का प्रयास किया है। प्रस्तुत पुस्तक भाषा, शैली, प्रस्तुतीकरण हर लिहाज से सुन्दर और प्रशंसनीय है। आकर्षक मुख्य पृष्ठ मुझे लगता है डॉ. श्रीवास्तव के अंदर हिन्दी विज्ञान लेखन की वर्तमान स्थिति को लेकर एक 'आग' है, एक रोशनी है, जो समस्याओं के समाधान के लिए प्रज्वलित है। ऐसे ही लोग कुछ विशिष्ट कार्य करते हैं। अच्छा कागज़ और अच्छी छपाई इसे और सुन्दर बना देते हैं। पुस्तक के द्वारा जो पहल की गई है उसे आगे बढ़ाने की जरूरत है। एक साथ 48 लेखकों के विचारों को प्रस्तुत करके संपादक ने 'गागर में सागर' वाली कहावत को चरितार्थ किया है। सच कहें तो यह एक मशाल है जिसे जलाए रखना है और इसे मुकाम तक पहुँचाना है। आशा है, यह पुस्तक हिन्दी विज्ञान लेखन के मुद्दे पर नए सिरे से एक राष्ट्रीय बहस शुरू करने की दिशा में मील का पत्थर साबित होगी। यह पुस्तक हिन्दी विज्ञान लेखकों के लिए तो उपयोगी है ही, यह विज्ञान के विद्यार्थियों और अध्यापकों के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। मैं स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों इत्यादि के पुस्तकालयों के लिए इसे क्रय किए जाने की संस्तुति करता हूँ, क्योंकि यह पुस्तक पुस्तकालयों की श्रीवृद्धि में सहायक होगी तथा इसे अधिक लोग पढ़ सकेंगे।

**सम्पादक** : डॉ. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव

**प्रकाशक** : डॉ. राम चौधरी

अधिशासी निदेशक, विश्व हिन्दी न्यास

54, पैरी हिल रोड, ऑसवीगो, न्यूयार्क-13126

(संयुक्त राज्य अमेरिका)

**वितरक** : हिन्दी बुक सेण्टर, 4/5-बी आसफ अली रोड़, नई दिल्ली-110002

**संस्करण** : प्रथम, 2003

**पृष्ठ संख्या**: 388

**मूल्य** : 380 रु. (भारत में) 10 अमेरिकी डॉलर (विदेशों में)

## पाठकीय प्रतिक्रिया

पंचकूला, हरियाणा  
'चिंतन-सृजन' जैसी अच्छी पत्रिकाएं आज के समय में दुर्लभ हैं। अच्छे प्रकाशन के लिए आपको बधाई।

राधेश्याम शर्मा 'कुसुम'  
पत्रकार

Hindi Deptt., Central University  
Hyderabad

I went through the first issue of your journal 'Chintan-Srijan' and congratulate you for your creative effort. Apart from the editorial and critical articles on literature by Narendra Kohli, Mahip Singh and Ramesh Chandra Shah and Dr, Lokesh Chandra, the article on Romila Thaper seems to be an eye-opener in the present context.

—Dr. Ravi Ranjan  
Associate Professor

एक चिन्तन आलेख प्रधान स्तरीय त्रैमासिकी के रूप में यह पत्रिका अभिनन्दनीय है तथा इसके सुदीर्घ जीवन की शुभ कामना है।

बड़ी बात यह है कि इस पत्रिका की सम्पादकीय परामर्श-समिति में डॉ. लोकेशचन्द्र और श्री निर्मल वर्मा सरीखे विद्वान हैं जब कि आस्था-भारती के सचिव डॉ. बी. बी. कुमार इसका सम्पादन कर रहे हैं। संपादन और मुद्रण सुरुचिपूर्ण है। आशा है यह चिन्तनपरक आलेख प्रधान गंभीर पत्रिका अपनी स्तरीयता सुस्थिर रखेगी।

प्रस्तुत 'अंक' में मुख्यतः सामायिक विषयों से संबंधित गंभीर राजनीतिक आलेख हैं। संपादकीय में भारतीय सुरक्षा संबंधी जो बात कही गई है वह अतीव प्रासंगिक है। इस संबंध में अपेक्षित सतर्कता बरती जाने की आवश्यकता है। डॉ. लोकेश चन्द्र का लेख विद्वतापूर्ण तथा भारतीयता की महत्ता उजागर करनेवाला है। डॉ. शंकर शरण, प्रो. सूर्यनारायण, डॉ. नरेन्द्र कोहली, डॉ. महीप सिंह, डॉ. अशोक बोहरा के लेख सूचनाप्रद पठनीय और विचारणीय हैं। पद्मश्री प्रकाश सिंह के लेख में

बांग्लादेशी घुसपैठियों से उत्पन्न समस्या चिंतनीय है। श्री राजीव वोरा के लेख में बिहार की छवि का आकलन ध्यानाविष्ट है।

डॉ. डोमन साहु 'समीर'  
देवघर, झारखण्ड

गाजीपुर

चिंतन-सृजन का प्रवेशांक विचार की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध और उत्तेजक बन पड़ा है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कविताओं और कहानियों से परहेज ही करेंगे। वस्तुतः इस तरह की पत्रिका की कमी हिंदी में महसूस की जा रही थी। आशा करता हूँ कि अगले अंक को भी लोकेशचन्द्र जी अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता से बेहतर बनाएंगे और शंकर शरण जी इतिहास के कई गुबार को साफ कर एक तटस्थ और यथार्थपरक इतिहास बोध के निर्माण में मदद करेंगे। ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक लेखों का विस्तार अपेक्षित है। लोकेश जी को अपने लेख में और विस्तार में जाना चाहिए था। नरेन्द्र कोहली, रमेशचन्द्र शाह, महीप सिंह और व्ही. सूर्यनारायण के लेख भी गंभीर बन पड़े हैं।

आशा करता हूँ कि अगला अंक और भी समृद्ध होगा और भारत के नये क्षितिज में नया वितान रहेगा।

संजय कृष्ण  
संपादक, 'जमदग्नि बीथिका'

देहरादून

'चिंतन-सृजन' पत्रिका का प्रवेशांक मिला। ... पत्रिका बहुत अच्छी लगी। इस प्रकार की वैचारिक पत्रिका की हिन्दी में कमी थी जिसे आपने दूर किया। साधुवाद डा. राय अवधेश कुमार श्रीवास्तव पूर्व अध्यक्ष वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग (भारत सरकार)

मैं पटना के मैगजिन कार्नर पर ज्ञानोदय खरीदने गया। 'चिन्तन-सृजन' दिखायी पड़ा। पृष्ठों को पलटा। और हर्ष विभोर हो गया। ज्ञानोदय के साथ 'चिन्तन-सृजन' भी साथ-साथ आया।

मैं वर्षों से राष्ट्रवादी चिंतन प्रधान गंभीर पत्रिका के संपादन प्रकाशन की प्रतीक्षा कर रहा था। प्रतीक्षा की साधना पूरी हुई। एतदर्थ आप साधुवाद के पात्र हैं। मेरी बधाई लें। दीपावली के अवसर पर मेरी मंगलकामना स्वीकार करें।

(प्रोफेसर) शत्रुघ्न प्रसाद  
पटना

हैदराबाद

पत्रिका पठनीय, चिन्तननीय व संग्रहणीय है। लीक से हटकर है। हिन्दी पत्रकारिता पर वाम अधिकार को चुनौती देती सी, तथ्यों को उजागर करती, साथ ही कलात्मक सौष्ठव संरक्षित करती हुई। सारा राष्ट्र आज आतंकवाद से ग्रस्त है। इस्लामिक आतंकवाद के उग्ररूप ने चहुँओर से आक्रमण बोल दिया है। देश की आंतरिक सुरक्षा और अधिक खतरनाक मोड़ पर आ गई है।.....

पत्रिका उत्तम व स्तरीय है। गेटअप व छपाई भी सुन्दर है। स्तर बनाये रखें।

(डॉ.) किशोरी लाल व्यास  
आचार्य/प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग  
उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद

दो दिन पहले आपके नये उपक्रम हिन्दी त्रैमासिक "चिन्तन-सृजन" का प्रथम अंक मिला। देखकर बहुत खुशी हुआ।

पत्रिका का गेटअप तो सुंदर है। फिर कुछ पन्ने उलटाकर देखे तो छपायी की गलतियाँ कहीं नहीं दिखी! सारा अंक वैचारिक और चिंतनात्मक सामग्री से समृद्ध है। लेखकों की नामावली निर्देश करती है कि इसकी समृद्धि अनिवार्यतः रहेगी ही। आप की अंग्रेजी पत्रिका डायलॉग के अनेक मूल्यवान अंक आपने निकाले हैं। आगे भी निकलते ही रहेंगे ऐसा विश्वास। "चिन्तन-सृजन" से भी ऐसी ही आशा है।

हिन्दी में इस तरह की पत्रिका शायद कम ही है। लेकिन इनका होना बहुत आवश्यक है। देश की विभिन्न समस्याओं और पहलुओं के बारे में गहराई से चिंतन करने के बाद सृजित सामग्री अत्यंत आवश्यक है। आपको हार्दिक बधाई। आपके हाथ अच्छे काम बराबर होता ही रहा है।

नटवर ठक्कर, गुवाहाटी

अध्यक्ष, राष्ट्रीय युवा आयोग, भारत सरकार,  
युवा कार्य एवं खेलकूद मंत्रालय, नई दिल्ली

आस्था भारती की त्रैमासिक पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' का अंक मिला। पत्रिका सुरुचि संपन्न है। मैं पत्रिका के उत्तरोत्तर विकास की कामना करता हूँ।

बलवीर पूंज

फारविसगंज, बिहार

'चिन्तन-सृजन' का प्रवेशांक मिला। संपादकीय में इस्लामी उग्रवाद और भारत की नीति पर दो टूक बातों की गई हैंप्रमाण के साथ। अन्य गंभीर आलेखों में समाज, धर्म, इतिहास पुराण, राजनीति आदि की परतें खोली गई हैं। पहला अंक और इतने

स्थापित कलमकारों के सहयोग? बधाई। यह पत्रिका अपना इतिहास बनायेगी।

(प्रो.) कमला प्रसाद बेखबर  
सम्पादक 'शैली'

नई दिल्ली

ऐसी पत्रिका निकालकर एक बड़े अभाव की पूर्ति कर रहे हैं। सही विचारधारा की पत्रिकाओं की कमी है।....बांग्लादेशी लोगों की समस्या पर लेख अच्छा है।.... पत्रिका में 'चिन्तन-सृजन' पक्ष तो है, थोड़ा सृजन पक्ष की ओर भी ध्यान दें तो पत्रिका कई पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर सकेगी।

लेखकों का पता भी छापा करें तो जिज्ञासु पाठक उनसे सम्पर्क कर सकते हैं।

(डा.) रमानाथ त्रिपाठी

नागपुर

आपके द्वारा प्रेषित 'चिन्तन-सृजन' अंक यहाँ मा. सुदर्शनजी को प्राप्त हुआ। अतीव आनंद हुआ डायलॉग का अंक तो पहले से ही मिलता है। वह भी पढ़ने हेतु सभी को आनंद देनेवाला है। 'चिन्तन-सृजन' अंक में लिखे लेख पढ़कर अति आनंद हुआ। मा. रंगाहरी अ.भा.बौ. प्रमुख जीने तो इसे एक ही बैठक में पढ़ लिया।

प्रदीप जोशी

वरीय सहायक

(पू. सरसंघचालक)

Delhi

I am rather late in acknowledging the receipt of your newly launched Hindi Journal 'Chintan-Srijan'. Thanks a lots for the favour. It is as enlivening as your English journal.

It is indeed quite laudable on your part to try to educate our half-educated intellectuals who are quite oblivious of the multi-pronged security crisis looming large over our country.

—V.P. Bhatia

Former Editor & Columnist

'चिन्तन-सृजन' का प्रवेशांक प्राप्त हुआ। आभार। आप "चिन्तन-सृजन" भले दिल्ली से निकालें, कटिहार को कैसे भूल गये? अंक के किसी कोने में ही सही कटिहार दिखना चाहिए था। क्या मैं गलत कह रहा हूँ?

डॉ. जोगेश्वर जख्मी

कटिहार

जोधपुर

आपने 'चिंतन-सृजन' मुझे क्यों भेजी? मैं न तो विद्वान हूँ और न घोर इस्लामवादी और न आपकी तरह सांप्रदायिक और कूप-मंडूक। आपके संपादकीय पर नजर पड़ते ही मेरा माथा ठनक गया था। फिर इधर-उधर से पृष्ठ पलटे, तो आपकी नीयत भांप गया और पत्रिका उठाकर एक ओर रख दी। संयोग से आज पत्रिका के शुरू के दो-तीन लेख पढ़ने का समय मिला।

मेरी दृष्टि में ये एक प्रायोजित कुप्रयास है। इसमें मेरी रुचि नहीं हो सकती। क्षमा कीजिए, आपकी 'आस्था' में मेरी कोई आस्था नहीं है। मैं जन्मना मुसलमान जरूर हूँ, पर सारे धर्मों को चूंचूँ का मुरब्बा समझता हूँ। मुझे तो हर वो विचारधारा गलत लगती है, जो खुद को बरतर और दूसरों को कमतर समझती है। मुझे न तो अपने मुसलमान होने पर फख है और न भारत में पैदा होने पर। भारत एक निहायत ही गंदा मुल्क है। स्वर्ग व नरक की अवधारणा भी मेरे गले नहीं उतरती, लेकिन इतना विश्वास है कि मृत्युपरांत मुझे कम-अज-कम नरक तो नहीं मिलेगा, क्योंकि मैं नरक से बदतर भारत में 63 बरस गुजार चुका हूँ। पता नहीं, और कितना भुगतना है? जिसे आप 'सहिष्णुता' कहते हैं, उसे मैं लहड़पन कहता हूँ। भारतीय कौम कल भी लहड़ थी और आज भी लहड़ है। इसीलिए तो पतनोन्मुखी है। पांच हजार साल पहले भारतीयों, (आपके हिसाब से हिंदुओं ने क्या किया) उसे छोड़िए। आज हिंदू क्या कर रहे हैं? अतीत की जुगाली करनेवालों को पहले अपने वर्तमान पर नजर डाली चाहिए। वर्तमान भयावह है।

पत्रिका को देखकर लगता है कि आप लोगों के पास धन बहुत है। काश! आप उसका सदुपयोग कल्याणकारी कार्यों में करते पर नहीं। आपको तो खुद को सही, दूसरों को गलत साबित करना और उन्हें गलियाना है।

पिछले दिनों मेरे पास 'शेष' के एक पाठक के.के. सिंह का पत्र आया था कि वो 8 मई 2004 को हिंदू धर्म का परित्याग कर रहे हैं, क्योंकि हिंदू धर्म असत्य और अंधविश्वास पर आधारित है और यह कि हिंदू धर्म का कोई मानक ग्रंथ नहीं है यह कि गीता का रचयिता और रचनाकाल पर विवाद है।

मैं तो धर्मों के बारे में ज्यादा पढ़ता नहीं हूँ (क्योंकि सरदर्द होने लगता है) लेकिन इतना जरूर विश्वास है कि ये जो रामायण और महाभारत हैं, ये सब मिथ हैं। पांच हजार सालों से यहां आस्था और मिथकों से काम चल रहा है। संभव है, हिंदू या सनातन धर्म में बहुत खूबियां होंगी, मगर आदमी, आदमी में भेद करने की, उनके साथ दासों जैसा व्यवहार करने की, स्त्रियों को जलाने की, हर वक्त गंदगी में रहने की जो व्यवस्था चली आ रही है, वो किसी तरह भी धर्मसंगत नहीं हो सकती। ये स्पष्टतः ब्राह्मणवाद है। सत्ता का सुख भोगने का तंत्र।

मुझे अफसोस है कि निर्मल वर्मा जैसे अच्छे लेखक भी आखिरी उम्र में पोंगा पंडितों की गोद में जाकर बैठ गए हैं। मैं यहां यह भी स्पष्ट कर दूँ कि मैं मार्क्स को खुदा नहीं मानता। और न वामपंथियों को बेकसूर मानता हूँ। वो सिर्फ बातों के धनी हैं। व्यवहार में बिल्कुल बोदे! तभी तो पोंगा पंडितों की बन आई है। अभी जो लोग सत्ता में हैं, उनको अगर सही चुनौती नहीं मिली तो देश को बेचकर खा जाएंगे।

अतएव श्रीमानजी, ये धर्म-वर्म, इतिहास-वितिहास का खतरा छोड़िये और ऐसी सामग्री पेश कीजिए कि ये लहड़ कौम नींद से कैसे जागे? अल्पसंख्यकों को मारने/डराने/भगाने से तो भारत की समस्याएं हल होनेवाली नहीं हैं। सबको मिल-जुलकर भारत को मजबूत बनाना है। आपकी पत्रिका तो अलगाववादी है। मैं नफरत फैलानेवालों के साथ नहीं हूँ। फिर मेरी क्या औकात? न पिढी, न पिढी का शोरबा!

हसन जमाल,

एडिटर, शेष,

तिमाही गंगा जमनी किताब

# आस्था भारती, दिल्ली

- अध्यक्ष :** डॉ. जयन्त माधव  
अर्थशास्त्री, पूर्व निदेशक, एशियन विकास बैंक,  
पूर्व अध्यक्ष, पूर्वोत्तर विकास वित्त निगम
- सचिव :** डॉ. ब्रज बिहारी कुमार
- कोषाध्यक्ष :** श्री जे.एन. राय  
भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)  
पूर्व आयुक्त, नागरिक उड्डयन सुरक्षा, नयी दिल्ली
- सदस्य, शासी परिषद :**
1. **प्रोफेसर मृणाल मिरी**  
कुलपति, पूर्वोत्तर पार्वत्य विश्वविद्यालय, शिलौंग
  2. **प्रोफेसर के.के. नारायण कुरुप**  
कुलपति, कालिकट विश्वविद्यालय
  3. **प्रोफेसर कमलेश्वर बोरा**  
पूर्व कुलपति, डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय
  4. **प्रोफेसर अरविन्द कुमार शर्मा**  
कुलपति, मिजोरम विश्वविद्यालय
  5. **प्रोफेसर दिनेश्वर प्रसाद**  
पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, राँची विश्वविद्यालय
  6. **प्रोफेसर व्ही. सूर्यनारायण**  
पूर्व प्रोफेसर एवं निदेशक,  
दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया अध्ययन केन्द्र,  
मद्रास विश्वविद्यालय
  7. **श्री प्रकाश सिंह**  
भारतीय आरक्षी सेवा (सेवा निवृत्त)  
पूर्व, महानिदेशक, सीमा सुरक्षा बल,  
पूर्व आरक्षी महा निदेशक, उत्तर-प्रदेश, असम
  8. **श्री राजेश भार्गव**  
इंजीनियर, व्यवसाय

## DIALOGUE QUARTERLY JOURNAL OF ASTHA BHARATI

### SPECIAL ISSUES

January - March 2002

**Illegal Migration from Bangladesh**

April - June 2002

**Central Asia**

July-September 2002

**Fiscal Mismanagement in North Eastern States**

October-December 2002

**Maoist Insurgency in Nepal and India**

January - March 2003

**India: Security Dimensions**

April - June 2003

**Indian Island: Andaman & Nicobar and Lakshadweep**

July-September 2003

**South-East Asia**

October-December 2003

**Secularism: India in Labyrinth.**

### FORTHCOMING ISSUES

**India's Neighbourhood**

**Himalayan Region**

**Problems and Prospects of North-East India**